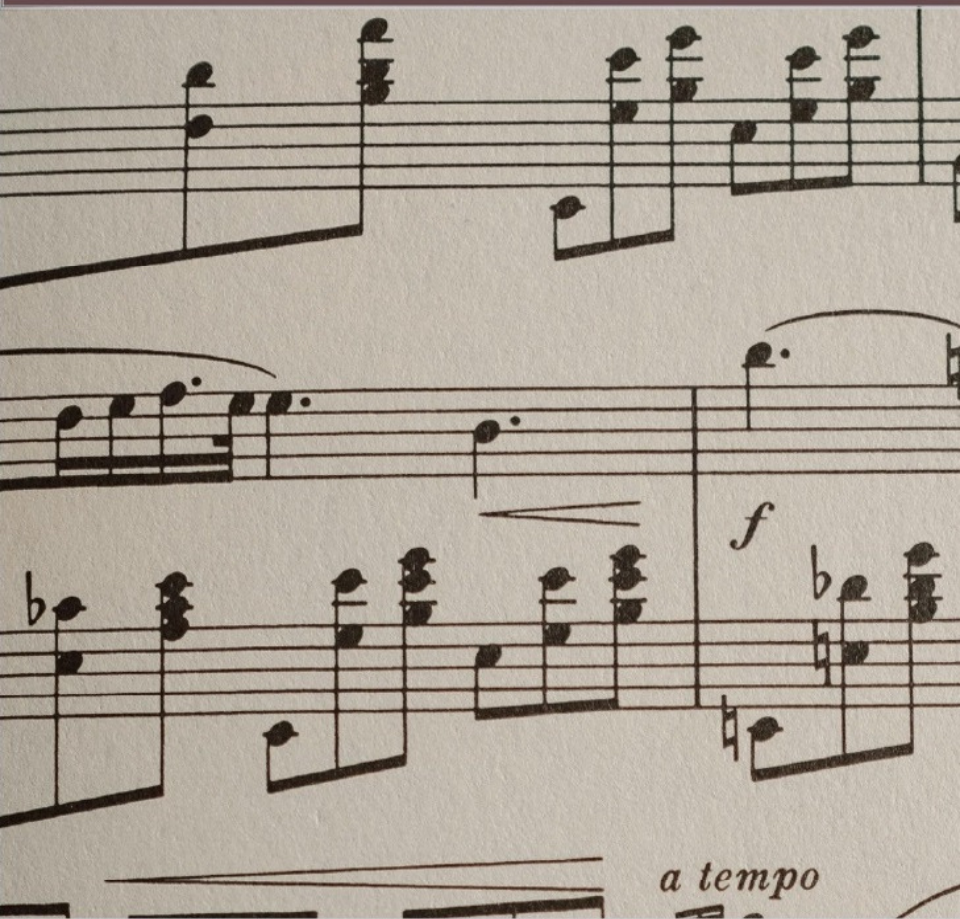
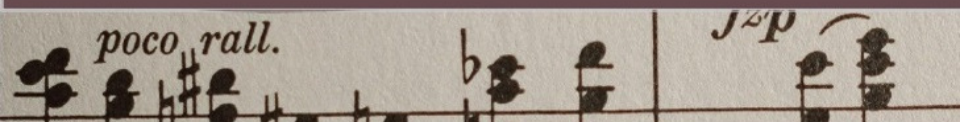


संगीत विद्या : एक विमर्श



संपादन : प्रो. नीरा चौधुरी • डॉ. अरविंद कुमार



संगीत विद्या : एक विमर्श

संपादन

प्रो. (डॉ.) नीरा चौधुरी

डॉ. अरविंद कुमार



सत्राची फाउंडेशन, पटना

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। किसी भी रूप में इसके संपूर्ण या किसी अंश का पुनरुत्पादन अथवा उपयोग से पहले लेखक/प्रकाशक से अनुमति लेना आवश्यक है।

ISBN : 978-81-959660-4-2

संगीत विद्या : एक विमर्श

© नीरा चौधुरी, अरविंद कुमार

प्रथम संस्करण : फरवरी, 2024

सहयोग राशि : ₹ 250

प्रकाशक एवं वितरक :

सत्राची फाउंडेशन, गोपालपुर, पुनपुन, बिहार 804453

वेब पता : satraachee.org.in

ईमेल : satraachee@gmail.com

मो. : 9661792414

मुद्रक :

सत्राची फाउंडेशन, पटना, 800016

मो. : 9470738162

Sangeet Vidya : Ek Vimarsh

Edited by Prof. Neera Chaudhury and Dr. Arbind Kumar

अनुक्रम

- 07 :: भूमिका
- 09 :: गुरु-शिष्य परंपरा और विश्वविद्यालयीन शिक्षण - पं. विनोद लेले
- 13 :: राग ध्यान : एक अध्ययन - लावण्य सिंह कीर्ति काव्या
- 21 :: बन्दिश में राग तत्व - नीरा चौधुरी
- 25 :: सारंगी वाद्य की व्यथा - पुष्पम नारायण
- 35 :: बिहार की विशिष्ट ध्रुवपद परम्परा - अरविन्द कुमार
- 45 :: संगीत (गायन) में भाव-संप्रेषण के आधार - अणिमा श्रीवास्तव
- 50 :: घराना एवं शिक्षण संस्थानों में शिक्षण पद्धति : एक अवलोकन - सारिका पटेल
- 58 :: भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली : परम्परागत एवं वर्तमान - रूमा चक्रवर्ती
- 69 :: शास्त्रीय-उपशास्त्रीय गायन शैलियों में भाव-संप्रेषण - विभा भारती
- 75 :: लोक संगीत और उसमें निहित भाव-पक्ष - रूपाली दास
- 80 :: सुरजापुरी लोकगीत सीमांचल की एक मीठी सी धरोहर - मौसमी सिन्हा
- 86 :: संगीत में छुपे स्वास्थ्य के राज - सोनिका तिवारी

- 92 :: ब्रह्मांडीय-चेतना का घूर्णन-
अक्ष : संगीत - पंकज मिश्रा
- 98 :: टुमरी: गायकी एवं संरचना - प्रीति मिश्रा
- 108 :: उपशास्त्रीय संगीत में भाव-संप्रेषण
की तकनीक - रीना दत्त
- 117 :: संगीत के शास्त्रीय पक्ष
की सार्थकता - कुमारी अभिलाषा
- 123 :: स्वर साधना : स्वरूप एवं महत्व - सोनाली बनर्जी
- 131 :: टुमरी : लोकतत्व एवं अंग - पल्लवी प्रिया
- 140 :: लेखक परिचय



भूमिका

हमने इस पुस्तक का नाम 'संगीत विद्या : एक विमर्श' रखा है। 'विद्या' शब्द थोड़ा अप्रचलित है। हमें संगीत कला कहने और सुनने की आदत पड़ चुकी है। और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि भारतीय संगीत की परंपरा संगीत को कला के रूप में ही स्वीकारती आई है। परंपरा से संगीत प्रशिक्षण का विषय रहा, चिंतन मनन से इसका सीधा जुड़ाव नहीं रहा। यह उपलब्धि तो आधुनिक युग में आकर प्राप्त हुई है। इस उपलब्धि ने संगीत को कला और विद्या दोनों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है। विश्वविद्यालयी शिक्षण व शोध प्रणाली ने संगीत के प्रशिक्षुओं को संगीत का विद्यार्थी भी बना दिया है। अतः संगीतज्ञ का व्यक्तित्व कलाकार होने के साथ-साथ विद्वान, चिंतक और विचारक की श्रेणी में भी समादृत होने का अधिकारी बन चुका है। वह संगीत के माध्यम से समाज, राजनीति, साहित्य, दर्शन, अध्यात्म, भाषाशास्त्र, लोकविज्ञान, मनोविज्ञान और चिकित्सा विज्ञान में हस्तक्षेप कर सकता है।

आए दिन संगीत के शोधार्थी और प्राध्यापक ऐसे-ऐसे सत्य की खोज करते हुए दिखाई पड़ते हैं जो संगीत कला का अतिक्रमण कर ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की सीमा में प्रवेश कर जाता है। अब यह नहीं कहा जा सकता कि संगीत केवल मनोरंजन व आध्यात्मिक सुख का साधन है, या भगवत् कृपा पाने का एक मार्ग है। संगीत मनोरंजन के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलकर एक स्वस्थ समाज और जिम्मेदार नागरिक के निर्माण में लग चुका है। इसलिए इसका हस्तक्षेप युगीन समस्याओं के निदान में किसी भी अन्य ज्ञान की शाखा से कम नहीं है। संगीत के इस युगीन उपलब्धि को हमें स्वीकार करना चाहिए और संगीत के विविध आयाम को सामाजिक संदर्भों से जोड़कर शोधकार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। यही वर्तमान समय की मांग भी है। अब कलाकार अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों से दूर नहीं जा सकता। उसकी कला साधना केवल मनोरंजन के निमित्त नहीं हो सकती। उसे अपनी कला को

विमर्श के केन्द्र में लाना होगा। खासकर, उस स्थिति में, जब कला को संस्कृति और मनुष्यता के रक्षण की जिम्मेदारी निभानी हो। इस जिम्मेदारी को संगीत का विश्वविद्यालयीय अध्यापक गहराई से समझ रहा है। इसलिए पिछले कुछ वर्षों से वह संगीत के बहुआयामी अस्मिता की तलाश में लगा है। प्रस्तुत पुस्तक उस तलाश की एक छोटी-सी उपलब्धि है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोधार्थी एवं उनके मार्गदर्शक प्राध्यापकों ने संगीत के उस विस्तार को अपनी दृष्टि में समेटने का प्रयास किया है, जहाँ कला और विद्या एक दूसरे को समृद्ध करते हुए देखे जा सकते हैं।

इस पुस्तक में सम्मिलित लेखों की अंतर्वस्तु किसी खास विषय पर आधारित नहीं है। लेखकों ने अपनी रुचि और विशेषज्ञता के क्षेत्र में जो कुछ महत्वपूर्ण देखा व समझा है, उसे यहाँ बिना किसी काट-छांट के प्रस्तुत कर दिया गया है। ऐसा करने के पीछे एकमात्र मकसद यही रहा कि हम यह जान व बता सकें कि वर्तमान समय में संगीत का शोधार्थी अपनी प्रज्ञा के केन्द्र में कला व समाज को एक साथ किस रूप में संजो रहा है। पुस्तक को पढ़ने के बाद आप स्वयं महसूस करेंगे कि लेखकों की कला-दृष्टि 'कला कला के लिए' का अतिक्रमण कर चुकी है। वे संगीत को युगीन संदर्भों में देख रहे हैं और उसकी अस्मिता के नए अर्थ को तलाश रहे हैं। इसके लिए उन्होंने शोध की एक ऐसी प्रणाली विकसित कर ली है जिसके तहत ज्ञान व तकनीक के विविध क्षेत्रों की यात्रा अपरिहार्य है। उस अपरिहार्य यात्रा का नाम ही विमर्श है। इस विमर्श में शामिल होकर संगीत के बहुआयामी तस्वीर को स्पष्ट करने के लिए हम लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। पं. विनोद लेले, प्रो. लावण्य सिंह कीर्ति 'काव्या' और प्रो. पुष्पम नारायण के लेख से इस पुस्तक की उपादेयता बढ़ गई है, एतद्दर्थ हम आभारी हैं। जिन शोधार्थियों के लेख से इस पुस्तक को आकृति मिली है, उन सबको हमारा स्नेह और आशीष..!

- संपादकद्वय

गुरु-शिष्य परंपरा और विश्वविद्यालयीन शिक्षण

पं. विनोद लेले

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानांजन शलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

[अज्ञान के अंधकार से जिनकी आँखें बंद हैं, ऐसे मनुष्य को ज्ञान रूपी अंजन के प्रकारा से उनकी आँखों को जो प्रकाशित करें, ऐसे गुरु को मेरा विनम्र नमस्कार।]

वर्तमान समय में कुछ ही विषयों की शिक्षण पद्धति में गुरु-शिष्य परम्परा परिलक्षित होती है। यहाँ पर मैं संगीत विषय की बात कर रहा हूँ। संगीत में परम्परा पर जब हम चर्चा करते हैं तो अनायास हमारे मस्तिष्क के तार अतीत की धारा से जुड़ने का प्रयत्न करने लगते हैं, और उस यत्न की परिणति कलाकार की गुरु परंपरा से साक्षात् कर ही विराम लेती है। भारतीय संगीत में गुरु और शिष्य की यह अप्रतिम, अविच्छिन्न और अत्यन्त सुन्दर दिखनेवाली यह शृंखला आज अनेक स्थानों पर विस्मित विरल और छिन्न होती दिख रही है। संगीत की सभी विधाओं पर उन प्रतिमानों का स्पष्ट अभाव दिखने लगा है। जो प्रतिमान सदियों से गुरु-शिष्य परम्परा का सशक्त आधार रहे हैं। वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवेश ही इस ह्रास के मुख्य कारण हैं, और इसी वजह से विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षा पद्धति भी इससे अछूती नहीं रह सकी है। संगीत सदा से क्रियात्मक विषय है फिर भी लेखन की प्रासंगिकता हमेशा बनी रहती है।

सर्वप्रथम गुरु-शिष्य परंपरा पर बात करते हैं। पीढ़ियों से चली आ रही हमारी संगीत विद्या की विरासत और उसके साथ-साथ प्रत्येक काल में व्यक्ति विशेष द्वारा स्वनिर्मित, स्वऊर्जित विशिष्टताओं की

धरोहर को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने, संजोने की प्रक्रिया ही गुरु-शिष्य परंपरा है।

इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है -गुरु मुख से निकलकर और गुरु द्वारा दिए गए निर्देशों पर अनुशासित ढंग से चलते हुए अगले अनेक वर्षों के लिए शिष्य के भीतर उस विद्या की स्थापन प्रक्रिया ही गुरु शिष्य परंपरा है। यह प्रक्रिया गुरु और शिष्य दोनों की तरफ से समान रूप से दृढ़ और ऊर्जावान होनी चाहिए। गुरु और शिष्य में से एक की भी उदासीनता इस परम्परा प्रक्रिया को शिथिल बनाती है।

गुरु जो अंधकार से प्रकाश की ओर ले चले, परन्तु गुरु की गूढ़ता यहीं तक सीमित नहीं है। संपूर्ण सांगीतिक परिप्रेक्ष्य में गुरु यानी गंभीर गूढ़ विद्या तत्व को जानने वाला, उसके मर्म को पहचानने वाला और एक साधक के रूप में आत्मविश्वास से भरा हुआ, कांतिवान, तेजवान, छलकपट से दूर परमतत्व में विश्वास रखनेवाला और शिष्य के भीतर उस गूढ़ता के रहस्य को देखने, जानने, पहचानने को आतुर.....। यह छवि एक आदर्श गुरु की हो सकती है और शिष्य..... अत्यन्त विनम्र समर्पित भाव से गुरु से प्राप्त विद्या की एक-एक बूँद को अपने रिक्त कलष में भरता-समेटता हुआ और पुनः एक-एक कर उस प्राप्त विद्या को गुरु द्वारा बतायी कसौटी पर कसता हुआ उसे भविष्य तक संजोने को आतुर....! ये छवि एक आदर्श शिष्य की हो सकती है।

गुरु और शिष्य के संबंध में उपर्युक्त संक्षिप्त कथन के अतिरिक्त गुरु का कार्यक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं है। संबंधित विषय तत्व का पाठ, शिष्य को देने के अतिरिक्त गुरु की दृष्टि अपने शिष्य पर समग्र भाव से होनी चाहिए। हमारे यहाँ कहा गया है कि गुरु को सद्गुरु होना चाहिए। सद्गुरु शिष्य को सत्य का मार्ग बतलाता है उसे हर ऊँच-नीच, भलाई-बुराई का ज्ञान देता है। अपने बड़े, बुजुर्ग गुणियों के आदर सम्मान की शिक्षा भी गुरु देता है। शिष्य के हरेक बढ़ते अनुचित कदम पर उसे सजग करते हुए उसके आत्मविश्वास को स्थिरता प्रदान कर उसे बौद्धिक और आत्मिक सुरक्षा प्रदान करता है।

हमारी संस्कृति में अनेकानेक विभूतियाँ पैदा हुई हैं और होगी।

आज भी ऐसे तपस्वी, मनीषी, साधक, गुरु और शिष्य मिल जायेंगे जो अपनी-अपनी साधना में लीन हैं। बात सिर्फ यह है कि “मनुज बली नहीं होत है, समय होत बलवान” समय के इस द्रुतगामी युग में मशीनी होती हमारी दैनिक क्रियाओं के वातावरण में गुरु का शिष्यत्व ग्रहण करना और पुनः उस शिष्य का गुरु बन जाना, ये बहुत ही अल्पावधि की क्रियाएँ हो गई हैं। आज शिक्षा पद्धति के दो रूप हमारे सामने हैं। पहली हमारी प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा और दूसरी विश्वविद्यालयीन / संस्थागत शिक्षण पद्धति। आज भी अनेक गुरुकुल हैं जहाँ रहकर शिष्य विद्या ग्रहण कर रहे हैं। अनेक महान, विद्वान, गुणी कलाकार अपनी क्षमता के अनुरूप शिष्यों को अपने साथ रखकर विद्यादान कर रहे हैं। ये बात और है कि बदलते परिवेश के कारण गुरु/कलाकारों की प्राथमिकताएँ बदल गयी हैं। फिर भी हम इस महान परम्परा की आवश्यकता और अस्तित्व को नकार नहीं सकते, क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ परंपरा है और रहेगी।

जहाँ तक विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षण पद्धति की बात है, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी अपनी सीमाएँ और लाभ हैं। यह एक समयबद्ध शिक्षण पद्धति है। इस समयबद्ध योजना में एक निश्चित किन्तु अल्पावधि में शिष्य अनेक गुरुजनों से संगीत विषयक जानकारी/शिक्षा को थोड़ा-थोड़ा सीख और समझ पाता है, किन्तु पारंगत नहीं हो सकता या नहीं हो पाता है। क्योंकि संगीत विद्या की गहनता ही ऐसी है, कि इस अल्प समय में उस पर अधिकार प्राप्त करना संभव नहीं है। पारंगत होना नामुमकिन नहीं है, किन्तु दुरूह, कठिन जरूर है। क्योंकि इसके लिए विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हुए साथ-साथ स्वयं के अथक परिश्रम साधना की अत्यंत आवश्यकता होती है। जो शिष्य ऐसे उच्चकोटि के प्रयत्न तत्परता से करेगा वह निश्चय ही सफलता के पायदान चढ़ेगा। संक्षेप में विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षण पद्धति में मेरे विचार से जहाँ शिष्य एक समय में एकाधिक गुरुओं से विद्या ग्रहण करता है और फिर परीक्षा में उत्तीर्ण होकर प्रमाण पत्र प्राप्त करता है, जो वर्तमान आज के समय की अत्यन्त मूलभूत आवश्यकता

है। वहीं गुरु शिष्य परम्परा में गुरु से प्राप्त विद्या को आत्मसात कर शिष्य मंच पर एकाधिक गुणी विद्वान, गुरुओं, के समक्ष अपनी कला साधना प्रस्तुत करता है और उनके द्वारा प्रशंसित होने पर गुरु को प्रमाण पत्र प्राप्त होता है, कि शिष्य उत्तीर्ण हुआ। संक्षेप में मेरे व्यक्तिगत विचार से यहाँ यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि प्राचीन गुरु-शिष्य परंपरा में शिष्य प्रशंसित होता है और गुरु को प्रमाण पत्र रूपी सम्मान प्राप्त होता है, परन्तु संस्थागत/विश्वविद्यालय शिक्षा पद्धति में गुरु विद्या दान करते हैं और शिष्य उत्तीर्ण होकर प्रमाण पत्र प्राप्त करता है।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि संस्थागत शिक्षण पद्धति की वर्तमान आवश्यकता के होते हुए भी हमें हमारी प्राचीन गुरु शिष्य परम्परा को और अधिक सुदृढ़ करना होगा। आज ध्वन्यांकन की आधुनिकतम सुविधाओं के कारण पुरानी परम्पराओं को सुनना, समझना अत्यंत सुलभ हो गया है, परन्तु इस सुलभता के चलते संगीत की अपनी-अपनी वैयक्तिक विशेषताओं को संजो कर रखना कठिन हो रहा है, क्योंकि मिलावट की संभावनाएँ बलवती हैं। फिर भी इस श्रेष्ठ गुरु-शिष्य परम्परा के संरक्षण संवर्धन के लिये सभी विद्वान गुणी संगीतज्ञ, गुरुओं को और उनके सुयोग्य शिष्यों को अपने-अपने स्तर से कार्य करना होगा ताकि हमें प्राप्त हुई विरासत को भविष्य के लिए और भी अधिक सुरक्षित आगे पहुँचाया जा सके।



राग ध्यान : एक अध्ययन

लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

'नाट्य शास्त्र' में रंग एवं भाव के संबंधों का वर्णन है। ध्यान-मंत्रों में विभिन्न रागों के लिए अलग-अलग रंगों का उपयोग भरत की शिक्षा का ही परिणाम है। 'लगभग मतंग के समय के पूर्व ही संगीत नाट्य से अलग होने लगा तो भाव की निश्चितता के अभाव में रिक्तता आ गई। संगीतज्ञों ने राग-ध्यान द्वारा इस कमी को पूरा किया। श्रोता और प्रयोक्ता के मध्य भाव-साम्य स्थापित करने का कोई साधन नहीं होने पर राग-ध्यान ही वैज्ञानिक समाधान था। गायक जिस राग का भाव प्रस्तुत करना चाहता था उसके अनुरूप राग-ध्यान कह देता था जिससे श्रोताओं को अनुभूति मिल जाती थी।' राग के दो रूप हैं- तकनीकी और भावमय। तकनीकी रूप में 'स्वर, ताल तो भावमय में भाव/इमोशन होता है। भाव रूप बहुत उदात्त है- गाय को गौ माता, पृथ्वी को माता आदि सम्बोधन भाव ही तो है। राग-रागिनियों में भी यही भाव है। राग-रागिनियों के पुरुष-स्त्री कल्पना को श्लोकबद्ध कर राग-ध्यान में प्रस्तुत किया गया। आरंभ में देवी-देवताओं और अनेक प्रतीकों को वर्णित किया गया था, बाद में साहित्य और कलाओं पर नायक-नायिका भेद छा गया। इसका कारण यह हो गया कि संगीत भी इससे अछूता न रह सका। पदों का आलम्बन देवी-देवता न रहकर लौकिक रूप में नायक-नायिका बन गए और राग-ध्यान में भी यही परिवर्तन अनिवार्यतः हुआ। राग-ध्यान तो शब्द चित्र हैं। 15 वीं शताब्दी में ये संस्कृत, हिन्दी और ब्रजभाषा में रचे गए।

15वीं-16वीं शताब्दी के ग्रन्थों- 'राग विबोध' (सोमनाथ), 'रस

कौमुदी' (श्री कष्ट), 'संगीत दर्पण' (दामोदर पंडित) आदि में राग-ध्यानों का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप मिलता है। इन राग-ध्यानों की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई कि हिन्दी में भी राग-ध्यान लिखे जाने लगे। संस्कृत राग-ध्यान का फारसी अनुवाद भी हुआ। राधा मोहन ने बांग्ला में 1881 में लिखा। 1768 में हरिवल्लभ द्वारा कवित्त लिखे गए। इससे पूर्व लक्ष्मण कवि के राग-ध्यान रूपी दोहे मिलते हैं। 'राग-रत्नाकार' में देव कवि द्वारा लिखित राग-ध्यान संग्रहित हैं।

ये राग-ध्यान ही राग-रागिनी चित्रों के आधार बने। 17-18वीं शती के चित्रों में राजपूतकालीन राजस्थानी चित्र-शैली से यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन संगीत-ग्रन्थों में राग-रागिनियों को ध्यान में निश्चित कर दिया गया था। इस ध्यान का आधार था- राग स्वरों से उत्पन्न भाव जिसे श्लोकबद्ध किया गया और इसे ही आधार मान कर राग-चित्र की रचना की गई। यद्यपि इसमें समयानुकूल परिवर्तन भी हुआ है। इस ध्यान के साथ कल्पना का भी संयोग उन चित्रों में दृष्टिगोचर होता है।

मध्ययुगीन भारत में राजपूतकालीन चित्रकारों ने अपनी भक्ति भावना से ओत-प्रोत धारावाहिक चित्रण आरंभ किया जिसे रागमाला की संज्ञा दी गई।

निम्नलिखित अध्ययन से ग्रन्थों में राग-ध्यान का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा-

पंचमसारसंहिता (नारदकृत)- पहली बार इस ग्रन्थ में ही 'रागिनी' शब्द आया है। यह ग्रन्थ राग-रागिनी वर्गीकरण पर आधारित है। प्राचीन और नवीनोत्पन्न 6 राग 36 रागिनियों के सचित्र ध्यानमंत्र इसमें दिए गए हैं। आचार्य वृहस्पति और भगवतशरण शर्मा ने 'पंचमसारसंहिता' में रागों के ध्यान का उल्लेख किया है।

रागसागर (नारदकृत)- राग-ध्यान का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमें 8 पुरुष राग और 24 स्त्री रागों का वर्णन है। ऐसा उद्धरण 'संगीत मरकन्द' में भी मिलता है परंतु दोनों के पुरुष राग तो समान हैं पर भार्याएँ भिन्न हैं। यहाँ राग का मित्र, सूचक और इति वर्गीकरण

भी है। एक अन्य वर्गीकरण स्वीया, परकीया, सामान्या भार्याएँ भी इसमें वर्णित हैं।

संगीतोपनिषत्सारोद्धार (सुधाकलशकृत)- नारदकृत 'राग सागर' के बाद राग-ध्यान का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है। इनके रागों के ध्यान मनुष्य रूप में न होकर देवी-देवता रूप में है। इस ग्रन्थ में 6 राग 36 रागिनियों का वर्णन है।

चत्वारिंशत्रागनिरूपणम् (नारदकृत)- इस ग्रन्थ में दस जनक राग, प्रत्येक की पाँच-पाँच भार्याएँ, चार-चार पुत्र एवं चार-चार पुत्र वधुओं का वर्णन है।

संगीत दर्पण (दामोदरपंडितकृत) - इस ग्रन्थ में भी 6 राग 36 रागिनियों का वर्णन है। इसमें देवस्वरूप आकर्षक ध्यान दिए गए हैं। संभव है, ये चित्र राग के रस का आधार हों, ये ध्यान रीतिकालीन कवियों के नायक-नायिका भेद वर्णन-शैली पर आधारित हैं।

संगीत राज (कुम्भाकृत) - इस ग्रन्थ के 'गीत रत्नकोष' में 33 देशी रागों के ध्यान जो बाद में रागमाला चित्रण के रूप में धरोहर बने। ये ध्यान देवताओं के रूप में हैं। प्रो. प्रेमलता शर्मा द्वारा सम्पादित 'संगीत राज' में 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' के राग-ध्यानों से 'संगीत राज' के ध्यानों की तुलना में समानता दिखाई देती है जिसे प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित ने भी अपनी पुस्तक 'नायक-नायिका-भेद और राग-रागिनी वर्गीकरण' में भी उल्लेखित किया है।

वृहदेशी (मतंगकृत) - इस ग्रन्थ में देशी रागों की चर्चा के आरंभ में मंगलाचरण से ज्ञात होता है कि इनके भी देशी रागों का ध्यान रहा होगा जो अप्राप्त है। यह प्रथम ग्रन्थ है जहाँ राग-ध्यान होने का संकेत मिलता है। यद्यपि इसका देशी प्रकरण अनुपलब्ध होने के कारण कोई प्रमाण नहीं मिलता पर 'संगीत राज' में मतंग के ध्यान का उल्लेख है।

देशी संगीत के सभी रागों को नाट्य से पृथक् रखा गया। उनका गायन-वादन स्वतंत्र रूप से होता था और उनके लिए कोई रूप, आकार, प्रकृति निश्चित करने की आवश्यकता पड़ी तब 'ध्यान' की परम्परा आरंभ हुई होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

संस्कृत राग-ध्यान के कुछ ग्रन्थ- श्रीकण्ठकृत 'रसकौमुदी'
 पुण्डरीक विट्ठल कृत 'रागमाला'
 शुभंकर कृत 'संगीत दामोदर'
 सोमनाथकृत 'राग विबोध'
 जीवराज दीक्षितकृत 'रागमाला'
 हिन्दी राग-ध्यान के कुछ ग्रन्थ- पुरुषोत्तमकृत 'राग विवेक'
 लल्लिमनदासकृत 'रागमाला'
 शिवरामकृत 'रागरससार'

अनेक ग्रन्थ अद्यतन अप्रकाशित भी हैं। मध्यकाल में रागों के विकास में राग-रागिनी वर्गीकरण स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठा प्राप्त किया। शिवमत, कृष्णमत, भरतमत, हनुमतमत आदि सम्प्रदाओं के अन्तर्गत रागों के भावमय रूपों का ही वर्णन हुआ। 15-16वीं शताब्दी में राग-रागिनियों के ध्यान निश्चित हो गए थे तो 16वीं शताब्दी के अन्त तक राजस्थानी शैली में नायक-नायिका भेद का चित्रण भी आरंभ हो गया था। रागमाला ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं। आरंभ में संस्कृत में ये ग्रन्थ रचे गए परन्तु बाद में ब्रजभाषा, हिन्दी में भी लिखे गए। अहमदाबाद के 'कल्पसूत्र' (1950) में राग-रागियों के गुजराती अपभ्रंश-शैली के चित्र प्राप्त होते हैं। 16वीं शताब्दी के अंत तक राजस्थानी शैली में चित्रण-प्रणाली आरंभ हो गई। 18वीं शताब्दी में इस शैली का पूर्ण विकास प्राप्त होता है जिसका मुख्य केन्द्र मेवाड़ था। इस रागमाला का इतना विकास हुआ कि दक्षिणी, बसोहली, पहाड़ी और मुगल शैली में भी रागमाला-चित्र प्राप्त होने लगे।

इस काल में रागों के ध्यान संगीतकारों के मस्तिष्क की उपज थी। और, कवियों ने भी इसको आधार मानकर नायक-नायिका भेद में इनकी कल्पना कर दोहे, रागमालाएँ आदि की रचनाएँ की तो चित्रकारों ने इसी भावमय रूप को चित्रित कर दिया। साहित्य, संगीत और चित्रकला भाव, रस और कल्पना के आधार पर एक-दूसरे के पूरक-संबंधी हैं। इन तीनों ही कलाओं का लक्ष्य 'रसानुभूति' है, आनन्द है। इन मूल तत्त्वों में साम्य के कारण ही राग-ध्यान का सम्बन्ध

सामान्य और सहज रूप से काव्य और चित्रकला से जुड़ गया। शासकों के कला और चित्रकला प्रेम के कारण अनेक फारसी, हिन्दी की रचनाओं को चित्रित किया जाता था। परिणामतः रागमालाएँ चित्रित की गईं। अनेक रागमालाएँ ऐसी हैं जिनका मुख्य उद्देश्य राग-रागिनियों के स्वरूप का वर्णन है।

रागमालाओं का चित्रांकन राग-ध्यान के अनुसार ही हुआ है। चौसठ कलाओं में संगीत के साथ-साथ चित्रकला भी समाविष्ट है। वात्स्यायन ने चित्रकला को सर्वश्रेष्ठ माना है-

“कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मंगल्यं प्रथमं चौतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥”²

रंग संयोजन- राग-ध्यान आधारित चित्रों में रंगों का सुन्दर चयन किया गया है। लगभग सभी रंग रागमालाओं के राग-ध्यानों में ही उपलब्ध हैं। रागमाला के चित्रकारों को यह ज्ञात था कि किस स्वर का किस रंग से संबंध है। स्वरों के रंग ज्ञात थे, यथा- षड्ज-लाल, ऋषभ-नारंगी, गान्धार-पीला, मध्यम-हरा, पंचम-नीला, धैवत-गहरा नीला और निषाद-वनफशाई। चित्रकारों ने रागों के स्वरूप, लक्षण, प्रकृति और ध्यानों के आधार पर ही रंगों का चयन कर चित्रित किया है। इन चित्रों से यह अवश्य प्रामाणित होता है कि उन चित्रकारों ने रस-भाव को रागमाला-चित्रों में चित्रित करने के लिए रंगों के रसों का भी गहन अध्ययन अवश्य किया होगा। तभी विभिन्न रागों को चित्रों में समाहित किया गया है।

आगे रागमालाओं में विभिन्न स्थितियों का दृश्य उपस्थापित है -

प्रकृति वर्णन- रागमाला चित्रों को प्रकृति के अनुसार चित्रित किया गया है, यथा- तोड़ी, बसन्त आदि में पीत वस्त्र में नायक-नायिका को प्राकृतिक वातावरण में चित्रित किया गया है। वायु-वेग में लताएँ, पेड़-पौधे, सायंकाल की गोधूलि में घर लौटना, प्रातः सूर्योदय, रात्रिकालीन अंधेरा, बिजली, वर्षा, बादल, उड़ते पक्षी आदि को अपनी कल्पना में आधार बनाकर सजीव चित्रण हुआ है जो स्वभाविक प्रतीत होता है।

समय चक्र-रागों के समय-चक्र के अनुसार, प्रातः काल, वर्षा, सायंकाल, संधिकाल आदि का चित्रण किया गया है। राग-रागिनियों को समय-चक्र के अधीन माना जाता रहा है। यद्यपि यह आधार वैज्ञानिक न होते हुए भी इस सिद्धान्त का पालन किया गया है।

ऋतु चक्र- रागों को ऋतुओं से भी जोड़ा गया है, यथा- शिशिर ऋतु में 'मालकौंस', 'श्री'; बसन्त ऋतु में 'बसन्त', ग्रीष्म में 'भैरव'; शरद् ऋतु में 'पंचम', वर्षा ऋतु में 'मेघ', हेमन्त में 'भट्टनारायण' आदि। रागमालाओं में ऋतुओं के अनुरूप। रंगों का चयन दृष्टिगोचर होता है। भारत सरकार द्वारा बारहमासा का कैलेण्डर 1992 में प्रकशित किया गया था जिसमें रागमाला का सुन्दर चित्रण था।

वनस्पति- प्रकृति के साथ-साथ वनस्पति, वन्यजीवन, पशुपक्षी का चित्रांकन भी दर्शनीय है।

आकार- यह किसी भी वस्तु के आकार-प्रकार से संबंधित है अर्थात् कौन-सी वस्तु छोटी या बड़ी होगी।

वेश-भूषा-सौन्दर्य वृद्धि में सहायक तत्त्व वेश-भूषा का रागमालाओं में विशेष ध्यान रखा गया है। 'भैरव' राग के ध्यान में शिव को सफेद वस्त्र, मस्तक पर त्रिनेत्र, चन्द्र, चर्म वस्त्र, गले में मुण्ड माला तो 'भैरवी' को पारम्परिक साड़ी-ब्लाऊज में दर्शाया गया है।

संगीत के तत्त्व- वाद्य आदि के लिए भी उपयुक्त रंगों का चयन परिलक्षित होता है। स्वरों के लिए रंगों का चयन इस प्रकार है, यथा-षड्ज-पद्म पत्र, ऋषभ-पिंजर, गान्धार-कनक, मध्यम-श्वेत, पंचम-कृष्ण, धैवत-पीत तथा निषाद-विविध रंगोपयुक्त है।

वाद्यों के चित्र-वाद्यों का चित्रांकन भी हमें रागमाला चित्रों में मिलता है। संगीत के वाद्यों का बहुत महत्त्व है। अनेक वाद्यों के चित्रण के अनेक उदाहरण इन चित्रों में मिलते हैं। तोड़ी रागिनी के चित्र में नायिका वीणा बजा रही है तो 'दीपक' राग के चित्र में पूरी गायक मंडली को तानपूरा, ढोलक, मंजीरा इत्यादि पर संगति करते हुए दर्शाया गया है।⁹ ऐसे अनेक चित्र प्राप्त होते हैं।

चित्रकारों तथा कलाकारों ने राग स्वरूप या स्वरावलियों के द्वारा

वर्णित देवस्वरूप का ही वर्णन रागमालाओं में रागध्यान के आधार पर किया है। रागों के नादात्मक, तकनीकी और भावमय स्वरूप के साथ-साथ राग के रसरूप को भी चित्रित किया है, यथा- 'भैरव' शिव रूप में, 'भैरवी' को पार्वती के रूप में, आदि।

रागमालाओं के रूप में संगीत, चित्रकला तथा ध्यान अर्थात् कविता का समावेश राग-रागिनी-चित्रों में प्राप्त होता है। ऐसा किसी अन्य संस्कृति में नहीं मिलता। राग-रागिनियों के चित्रों में संगीत में छिपी भावना को एक स्पष्ट रूप दिया गया है।⁴ इन रागमालाओं का समय 15वीं से 19वीं शताब्दी तक माना गया है। रागमाला चित्रों का आरंभ 'अपभ्रंश' शैली से जुड़ता है। गुजरात में जैन धर्म के प्रभाव के कारण इस अपभ्रंश शैली को 'गुजराती' शैली बताया गया है। 1100 से 1500 ई. के बीच श्वेतांबर जैन धर्म की सचित्र पुस्तकें लिखी गईं जो आगे चलकर कला-शैली का आधार बनीं। इस शैली के अनेक नाम दिए गए, यथा- जैन शैली, गुजराती शैली, पश्चिमी भारतीय शैली, अपभ्रंश शैली आदि। मतंग कृत 'वृहदेशी' में रागध्यान-परम्परा का बीजारोपण प्राप्त होता है जो 14 वीं शताब्दी में 'संगीतोनिषत्सार' (सुधाकलशकृत) में प्रस्फुटित होता है जहाँ राग 'भैरव' में शिव की कल्पना की गई है। रागमाला चित्रों के रूप में मध्यकाल में राग-रागिनियों के ध्यान प्राप्त होते हैं। राजपूतकालीन चित्रकारों ने अपनी भक्ति-भावना से ओत-प्रोत धारावाहिक चित्रण आरंभ किया जिसे रागमाला की संज्ञा दी गई। इसमें सांगीतिक भावों का वर्णन रंगों और रेखाओं द्वारा किया गया। राजपूतकालीन शैली की चित्रकला का मुख्य केन्द्र जयपुर था। इस काल का सर्वाधिक विकास सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में हुआ। 'मालवा' शैली के चित्र 1630-1700 के बीच बनाए गए। 18वीं शताब्दी के इतिहास संशोधक मण्डल, पूना में कुछ चित्र 'मुगल' शैली के हैं, उनपर राजस्थानी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रागमाला के चित्र 'सिरोही' शैली में मिलते हैं। 'राजस्थानी' चित्र शैली को दो भागों में कुमार स्वामी ने 'राजपूत' पेन्टिंग्स के प्रथम भाग की भूमिका में

वर्गीकृत किया है- 'राजपूत' शैली और 'मुगल प्रभाव वाली' शैली। राजस्थानी शैली का विकास मुख्यता चार स्थानों में राजस्थानी उपशैलियों के रूप में हुआ-

मेवाड़- उदयपुर, नाथद्वारा, प्रतापगढ़

मारवाड़- जोधपुर, बीकानेर, नागौर, किशनगढ़

हाड़ौती- बूंदी, कोटा, झालावाड़

ढूंढारी- जयपुर, अलवर, अणियारा

मुगलों के सम्पर्क के कारण 17वीं शताब्दी में इस शैली का मुगल शैली की ओर झुकाव होने लगा।

इसके अतिरिक्त एक और शैली का विकास हुआ जिसे 'पहाड़ी' शैली के नाम से जानते हैं। 'गुलेर' शैली, 'कांगड़ा' शैली के चित्र भी भरपूर प्राप्त होते हैं। 'रागध्यान' का चित्रांकन दक्षिण, राजस्थानी और पहाड़ी की प्रमुख शैली तथा उपशैलियों में प्राप्त होता है जहाँ रागों के स्वरमय (तकनीकी) एवं भावमय रूपों का वर्णन मिलता है।

संदर्भ :

1. पाण्डेय, कु. उषा रानी, राग ध्यान, संगीत, अप्रैल 1982, पृ. 3
2. मालवीय, बद्रीनाथ, श्री विष्णुधर्मोत्तर में चित्रकला, इण्डियन (पब्लिकेशन) प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, 1960, पृ. 3
3. क्लॉज ईवलिंग, रागमाला पेंटिंग्स, दिल्ली, चित्र सं. 75
4. भारतीय संगीत में राग-रागिनी चित्र, संगीत, दिसम्बर, 2001, पृ. 17



बन्दिश में राग तत्व

नीरा चौधुरी

हमारे देश में संगीत साधना का इतिहास स्वर, शब्द और चित्र में निहित है। विभिन्न ऋतुओं और विभिन्न समय के भावों के साथ मिलकर विभिन्न राग-रागिनियों की रचना की गई है। राग संगीत का प्रथम घाट है स्वर। स्वर वह मूलभूत इकाई है जिस पर संगीत की विविध रचनाएँ मुखरित होती हैं। स्वर को संगीत की वर्णमाला भी कहा जाता है। स्वर वस्तुतः श्वास साधन की प्रक्रिया है। इसे राग ध्वनि का जनक कहा गया है। 'राग' शब्द का सीधा संबंध रंजकता से है। इस अर्थ में स्वर में माधुर्य गुण का होना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्रीय संगीत राग तथा ताल पर निर्भर करता है। बारह स्वरों में से (कम से कम 5) कुछ स्वरों को लेकर राग का निर्माण किया जाता है। मेरी गुरु प्रो. वनमाला पर्वतकर के अनुसार "राग के विस्तारकरण में उनके लक्षणों का पालन किया जाता है; जैसे: राग के वादी-संवादी, आरोह, अवरोह, पकड़, गायन वादन समय इत्यादि का ध्यान रखते हुए राग बनते हैं। भारतीय संगीत में राग प्रस्तुत करने के लिए वादी संवादी पर विशेष ध्यान दिया जाता है। एक जैसे स्वर होने पर भी वादी संवादी के परिवर्तन होने से राग तथा राग का गायन समय बदल जाता है। इन सबको ध्यान में रखते हुए जब राग बनता है तो उस राग को विस्तार देने के लिए एक निश्चित स्वरूप देने के लिए बन्दिश बनाई जाती है। उन बन्दिशों में राग तत्वों को ध्यान में रखते हुए उसकी रचना की जाती है। राग तत्वों के आधार पर ही बन्दिश उस राग को ढलाती है। अतः बन्दिश में रागतत्व का होना अत्यन्त आवश्यक है।"¹

बन्दिश का अर्थ गीत रचना, निबंध, प्रबन्ध, वस्तु, रूपक, गत आदि होते हैं। भारतीय संगीत में बन्दिशों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन एवं मध्यकालीन संगीत ग्रन्थों में गेय रचना को सामान्य

रूप से गीत कहा गया है, जिसकी व्याख्या सर्वप्रथम पं. शारंगदेव ने की है। बन्दिश शब्द मूलतः फारसी भाषा का शब्द है, जो कि अपने इसी रूप में, फारसी से उर्दू में, और उर्दू से संगीत की व्यावहारिक शब्दावली में ग्रहण कर लिया गया है। बन्दिश शब्द प्राचीन प्रबन्ध का ही पर्याय है। जिस प्रकार प्रबन्ध का अर्थ है, सुन्दर, श्रेष्ठ एवं व्यवस्थित रचना, उसी प्रकार बन्दिश प्रबन्ध, राग, स्वर, ताल, लय एवं शब्दों की रचना है। राग संगीत में बन्दिश किसी विशेष राग में विशेष साहित्यिक रचनाओं के साथ निर्माण किया जाता है।

प्रबन्ध रचनाओं के कई शताब्दियों के पश्चात् ख्याल शैली का जन्म हुआ, ख्याल में दो रूप हुए— 1. बड़ा ख्याल, 2. छोटा ख्याल, इसके पश्चात्, मध्यलय ख्याल, द्रुतलय ख्याल, तराना, चतुरंग, तिरवट आदि विभिन्न शैलियों का जन्म हुआ इन विभिन्न शैलियों के अभ्यास से राग को सजाया जाता है। भारतीय संगीत में स्वर और लय के आधार पर राग एवं ताल की संकल्पना प्राप्त हुई यह संकल्पना आगे दो भिन्न शैलियों में विकसित हुई; 1. हिन्दुस्तानी शैली, 2. दक्षिण भारतीय शैली। दक्षिण भारतीय शैली में बन्दिश को Musical Composition के नाम से जाना जाता है।

कंठ संगीत की बन्दिशों में कुछ सार्थक शब्दों के अलावा कुछ अर्थहीन शब्दों का भी समावेश होता है, बन्दिज के दायरे में रहकर हर कलाकार अपनी क्षमता अनुसार राग को साकार करते हैं। राग और ताल दोनो ही भारतीय कला संगीत के वैशिष्टपूर्ण संकल्पनाएं हैं। जब किसी राग की सृष्टि होती है तब वह एक बीज रूप लेकर सामने आता है, तत्पश्चात् उसमें विभिन्न कलाकारों के चिन्तन, मनन से वह एक विशाल वृक्ष सा बढ़ता जाता है, तथा परिपक्व होता रहता है। राग के विराट स्वरूप को किसी माध्यम में पकड़ना संभव नहीं हो पाया है परन्तु राग का बीज रूप बन्दिश की परिधि में समेटकर सुरक्षित रखना संभव है।

सुविख्यात गायिका पद्मिभूषण विदुषी डा. प्रभा अत्रे के अनुसार – “राग को जीवित रखने के लिए बन्दिश का जन्म हुआ, ऐसा मुझे लगता है, वह एक रागमात्र है बार-बार उसे दोहराने से राग स्वरूप

विकसित होता है, बन्दिश में निहित राग का छोटे से छोटा रूप राग विकास के अलग-अलग रास्ते सूचित करने में मदद करता है।”²

विद्वानों के अनुसार बन्दिश राग रूप की एक झलक है। बन्दिश नहीं होते हुए भी आलाप, तान, सरगम का उपयोग करके राग साकार हो सकता है, परन्तु जब हम किसी विधा के माध्यम से (ध्रुपद, ख्याल आदि) राग स्पष्ट करना होता है, तब बन्दिश का होना भी अति आवश्यक होता है।

संगीत की विद्या के अनुसार उसकी आकृति और लम्बाई बदलती रहती है। साधारणतः बन्दिश के दो भाग होते हैं, स्थायी और अन्तरा, स्थायी और अन्तरे की पहली पंक्ति के विशिष्ट भाग को मुखड़ा कहते हैं। मुखड़े का विशिष्ट अक्षर ताल की पहली मात्र अर्थात् सम पर मिलता है। सुविख्यात गायिका पद्मश्री विदुषी पद्मा तलवलकर के अनुसार— “मुखड़ा बन्दिश का एक महत्वपूर्ण अंग होता है मुखड़े में राग के स्वरूप कलाकार जितने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करेंगे, वह प्रस्तुतीकरण उतना ही आकर्षणीय, सुन्दर व सुयोग्य होता है।”³

संगीत एक अमूर्त कला है अतः राग भी स्वयं एक अमूर्त संकल्पना है। राग साकार करने के लिए उसकी सांगीतिक सामग्री के साथ-साथ बन्दिश में उपलब्ध शब्दों का भाव, स्वरों पर असर करता है, दूसरी ओर राग में उसका रस भाव तथा लय भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। हर राग की अपनी एक लय होती है, लय के अनुसार ही राग का भाव तैयार होता है। भाव, भावनाओं का शाखा, प्रशाखा लेकर राग रूपी बृक्ष खड़ा रहता है, कलाकार अपनी भावना के अनुसार राग को विभिन्न स्वर-समुदायों द्वारा रंजित करता है। बन्दिश के अर्थपूर्ण शब्द जब भाव के ऊपर असर करता है तब शब्दों के माध्यम से भी साधारण श्रोता राग को अनुभव करते हैं। किसी भी राग का सांगीतिक व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होता है कि विभिन्न काव्यों के रचनाओं से भी वह अपने बारे में ही निवेदन करता है।

बन्दिशों के माध्यम से ही राग की ओर जाने के नये-नये रास्ते मिलते हैं तथा राग के स्वरूप का दर्शन होता है। एक राग में एक से अधिक बन्दिशें यदि भिन्न-भिन्न धुन में बनायी जाए तो राग के

स्वरूप को समझने में सुविधा होती है, दूसरी ओर राग के स्वरूप को गहराई से समझने के बाद ही एक प्रतिभाशाली संगीतज्ञ को एक बन्दिश भी काफी होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि बन्दिश, स्वरों के उच्चारण में विविधता लाती है, स्वरों की भावनाओं का रंग देता है। तथा लयकारी में भी सहयोग करता है।

कला के स्वरूप और उसके ज़ात में सर्वदा कुछ अन्तर दिखाई देता है, क्योंकि समय के साथ कला नवीन रूप धारण करता है। कोई भी शास्त्र में एक सुन्दर संगीत अवश्य होनी चाहिए। अर्थात् जब हम किसी राग का प्रस्तुतीकरण करते हैं तब उसके मूल शास्त्र को ध्यान रखकर ही, उसकी कलात्मकता को बढ़ाते हैं। जैसे कल्याण अंग के अनेक प्रकार हैं, जब हम उनके कोई भी प्रकार गाते हैं तो उसमें कल्याण का मूल रूप दिखना अत्यावश्यक है, साथ ही उस राग के जो भी शास्त्र है उसका यथोचित सम्मान के साथ, कलात्मक का सुन्दर मेल होना चाहिये। राग गाते समय उसके मूल स्वरूप दिखाने में अधिकांश विलम्ब शायद यथोचित नहीं है।

प्रत्येक कलाकार की अपनी एक अलग ज़ौली होती है तथा प्रस्तुतीकरण का एक स्वतन्त्र ढंग होता है, अपनी प्रतिभा, ज़िज्ञा, साधना, संस्कार, चिन्तन-मनन, दूसरों के अच्छे गुणों को ग्रहण करना, शारीरिक स्वास्थ्य आदि के सहयोग से वह अपनी गायन, वादन के शैली को प्रस्तुत करते हैं। अतः किसी राग की सफल प्रस्तुति तभी संभव है, जब हम उस राग के स्वरों से प्यार करें, उस राग को स्वर तथा शब्दों के सहारे सहलाएं - बहलाएं और उनके हर स्वर और शब्द पर अपने आप को समर्पण करें।

संदर्भ:

1. प्रो. वनमाला पर्वतकर, शिक्षण के दौरान प्राप्त।
2. पद्मविभूषण विदुषी डा. प्रभा अत्रे, 'स्वरांगिनी'
3. पद्मश्री विदुषी पद्मा तलवलकर, साक्षात्कार के दौरान प्राप्त।



सारंगी वाद्य की व्यथा

पुष्पम नारायण

ख्याल एवं ठुमरी गायक के साथ विशेष रूप से प्रचार में आने के बाद स्वतंत्र वादन एवं जुगलबंदी में भी सारंगी ने अपना जादू लम्बे समय तक बरकरार रखा, किन्तु पाश्चात्य वाद्यों की धमक और अधिक श्रम से बचते रहने की प्रवृत्ति आज इस वाद्य को शास्त्रीय, उपशास्त्रीय तथा लोक संगीत से न केवल विमुख करती जा रही है। अपितु यह वाद्य शनैः शनैः लुप्त होने के कगार पर आ पहुँचा है।

सारंगी जैसे भारतीय वाद्य को सीखने के लिए भारतीय संस्कृति तथा कला के प्रति सच्ची निष्ठा अत्यंत आवश्यक है। आधुनिकता के दौड़ में संगीत के प्रति सामान्य दृष्टि अत्यंत सतही होती जा रही है। पाश्चात्य वाद्य को सीखने की होड़ सी हो गई है और इस क्रम में भारतीय वाद्य से संगीत छात्र विमुख होते जा रहे हैं। पाश्चात्य वाद्यों को सीखने की ही नहीं, बल्कि ऐसे वाद्यों पर भारतीय संगीत के राग-रागिनियों को बजाते समय हुए वाद्य का भारतीय संस्कार रखने की अपेक्षा पाश्चात्य धुनें बजा कर लोग आनन्द का अनुभव करते हैं।

आज सारंगी की स्थिति बहुत दयनीय होती जा रही है। सारंगी कलाकार भी नहीं चाहता कि उसके बच्चे सारंगी वादन को अपनाएं। सारंगी वादन की परम्परा लुप्त होती जा रही है। सारंगी नवाज उस्ताद मम्मन खाँ की परम्परा में चाँद खाँ तथा उस्मान खाँ ने गायन को अपनाया तो किराने घराने के उस्ताद वहीद खाँ ने सारंगी वादन को छोड़ कर गायन को अपनाया। पं. सुर सहाय जी के सुपुत्र पं. गोपाल मिश्र के निधन के पश्चात् सारंगी की वंश परम्परा समाप्त हो गई तो

पंडित हनुमान प्रसाद मिश्र के सुपुत्रों पं. राजन मिश्र एवं पं. साजन मिश्र ने भी सारंगी को तिलांजलि देकर गायन को अपनाया तो उदयपुर के पंडित राम नारायण के सुपुत्र सारंगी छोड़ कर सरोद वादन की साधना में लगे हैं।

सारंगी को प्रथम आघात हारमोनियम से तब पहुँचा, जब इसका आविष्कार अलेकजेंडर डिबेन ने सन् 1850 में फ्रांस की राजधानी पेरिस में किया। शताब्दी पूर्व जब यह भारत आया लोगों ने इसे हाथों हाथ लिया। सारंगी की तुलना में हारमोनियम एवं वायलिन सरल सुविधाजनक एवं आधुनिक था जिसे लोगों ने हाथों हाथ लिया। हारमोनियम के पक्षधर लोगों का तर्क है कि सारंगी में तरब की तारों की संख्या इतनी अधिक है कि उन्हें ठीक प्रकार से मिलाने में बड़ा समय लगता है। वर्तमान श्रोता के पास इतनी देर प्रतीक्षा करने का समय नहीं है। गायन की प्रत्येक हरकत, गायक, मींड़ आदि की हू-ब-हू नकल जो सारंगी की मूल विशेषता है, संगत में आवश्यक नहीं है। सारंगी के गज के हर मिनट पर दायें से बायें और बायें से दायें चलाने की प्रक्रिया से संगीत के प्रवाह में व्यवधान होता है। द्रुतलय में तान फिरत की संगत में सारंगी का स्वर न केवल कर्कश हो जाता है, बल्कि तार गज की चोट से उतर कर बेसुरे हो जाते हैं। सारंगी के सूक्ष्म अभ्यास में अत्यधिक धैर्य एवं परिश्रम चाहिए। सारंगी अभ्यास से अंगुलियों के नाखून तारों से रगड़ खाते-खाते क्षत विक्षत हो जाते हैं। अंगुलिया कुरूप एवं भददी लगने लगती हैं।

भारत में हारमोनियम के आगमन के बाद भैया गनपतराव संगीत क्षेत्र में आए और हारमोनियम की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने बड़ी मेहनत और लगन से अभ्यास करके हारमोनियम वादन में अद्भुत दक्षता प्राप्त की और इसे प्रचलित किया। इसी समय भैया गनपतराव ने हारमोनियम को लेकर ठुमरी गायन में एक नए युग का सूत्रपात किया। इसका नतीजा यह हुआ कि उस समय के प्रसिद्ध गायक भास्कर राव बाखले, अब्दुल करीम ख़ाँ तथा गौहर जान जैसी गायिका संगति के लिए हारमोनियम का प्रयोग करने लगी।

इस तरह यह पता चलता है कि हारमोनियम के द्वारा ही सारंगी को पहला आघात पहुँचा। सारंगी की तुलना में कम मेहनत एवं जटिल तारों को मिलाने की प्रक्रिया से ही मुक्ति मिल गई थी जो हारमोनियम के प्रचलन का मूल कारण बना। धीरे-धीरे ठुमरी गायन में भी सारंगी की जगह हारमोनियम का प्रयोग होने लगा।

स्वस्थ एवं उच्चस्तरीय महफिलों, गोष्ठियों की अपेक्षा सारंगी कोठे में कैद हो गई। इन कोठों में मुजरों महफिलों का आकर्षण का मुख्य केन्द्र बिंदु 'गायिका' अथवा 'नर्तकी' हो गई थी। गायकी से ज्यादा उनकी शारीरिक सौन्दर्य प्रधान हो गया। धीरे-धीरे सारंगी वादक कलाकारों की मेहनताना भी घटने लगी। कम मेहनताना के कारण सारंगी वादक आर्थिक स्थिति, उपेक्षित एवं दयनीय होती चली गई। सारंगी वादक कलाकार घाड़ी मिसाजी कहलाने लगे और संगीत समाज के लिए अछूत वाद्य तथा उसके वादकों का वर्ग बन गया। प्रतिष्ठा प्राप्त कलाकार सारंगी वादकों को उचित मान सम्मान देना भूलता चला गया।

एक तरफ गायिका परंपरा से सिद्धेश्वरी देवी, गिरिजा देवी जैसी कलाकार संगीत जगत में स्थापित हुईं परन्तु इन परंपरा में आई विकृतियाँ सारंगी के लिए अधिक अभिशाप साबित हुईं। गायिका का संगीत की सीरत की अपेक्षा 'सूरत' का महत्व दिया जाना तथा मुजरों का नृत्य प्रधान होना जिससे लोग संगीत तथा गंभीर गीतों ठुमरियों पर ज्यादा आकर्षित न होकर गायिकाओं की अदायें तथा शारीरिक सौन्दर्य पर आकर्षित होने लगे जिससे सारंगी वादक कलाकारों की स्थिति दयनीय होती चली गई। मुजरों में आने वाले इनाम में सारंगी वादकों का हिस्सा काफी कम होता था जैसे रूपये में दो आने सारंगी वादक, एक आना तबला वादक इसी प्रकार अन्य लोगों का हिस्सा होता था जिससे सारंगी वादक का जीवनयापन करना मुश्किल होने लगा। फलतः वे धीरे-धीरे सारंगी से या तो अलग हो गए या अपने बच्चों को इससे दूर कर दिए जिससे सारंगी वादकों की धीरे-धीरे कमी होती चली गई।

शास्त्रीय संगीत में मान्यता मिलने के बावजूद सारंगी के प्रति कलाकारों का अपेक्षित झुकाव नहीं हो सका तथा न ही कोई विशेष शैली ही बन सकी। सारंगी गायकी की अनुकृति बन कर रह गई जो इसके अपेक्षित होने के मूल कारण हो सकते हैं।

जब किसी सारंगी वादक की कला समीक्षा के संदर्भ में प्रशंसा करनी होती है तो यह कह दिया जाता है कि सारंगी वादक श्रेष्ठ गायक कलाकारों की संगत कर चुके हैं। कार्यक्रम से पूर्व उद्घोषक भी सारंगी वादकों के साथ सौतेला व्यवहार करते हैं। कुछ सारंगी वादक कलाकार सारंगी की विभिन्न स्वतंत्र शैलीगत विशेषताओं की अपेक्षा घराने अथवा क्षेत्र विशेष में प्रचलित गायकी को बाज के रूप में प्रयुक्त करते हैं। सारंगी सर्वगुण संपन्न होने के बावजूद पूरा उभरने का मौका नहीं मिल पाता है जो इसके पिछड़ेपन का कारण है। गायक को अपनी गायकी चमत्कार दिखलाने का असीमित अधिकार है परन्तु बेचारे सारंगी वादक को सदैव इस प्रकार चलना है कि उसके वादन से गायक का गायन निखरता रहे पर सारंगी वादक को अपनी विशिष्टता दिखाने का उचित अवसर नहीं मिला पाता।

कई महान सारंगी वादकों का गायक के रूप में परिवर्तन हो जाना भी सारंगी के पिछड़ेपन का कारण रहा है तथा उचित काम और उचित मेहनताना न मिलने के कारण कई महान सारंगी वादक कलाकार अपने पुत्रों को सारंगी की शिक्षा न देकर गायन अथवा दूसरों साजों पर अभ्यास कराने लगे। हमारे कई महान सारंगीवादक बहुत बड़े गायक हुए और बड़े संगीतकार के रूप में ख्याति प्राप्त की। बड़े गुलाम अली खां, अमीर खां, मेंहदी हुसैन खां, रहमान बख्शा फतेह मुहम्मद, वजीर खां, गिरधारी लाल, नजीर खां, ऐसे नाम हैं जो मूल रूप से सारंगी वादक थे पर बाद में सारंगी छोड़कर इन्होंने गायकी को गले लगाया। गुलाम अली खां के संगीत की शिक्षा अपने चाचा काले खां से पाई। इसके बाद वे लाहौर चले गए। जब गुलाम अली 20 वर्ष के थे उसी समय इनके पिता अली बख्शा ने दूसरा विवाह कर लिया। सौतेली माँ का व्यवहार इनके प्रति अच्छा नहीं था। अतः इनकी सगी

माँ ने इन्हें सारंगी सीखने की सलाह दी और वे सारंगी सीखने लगे। सारंगी की शिक्षा ग्रहण करने के बाद जहाँ तहाँ सारंगी वादन का कार्यक्रम मिलने लगा। इस तरह सारंगी बजाकर पूरे परिवार का पालन पोषण करने लगे। पर्याप्त कार्यक्रम न मिलना तथा उचित मेहनताना न मिलने के कारण ये गाना का भी रियाज करते रहते थे। कुछ दिनों के बाद वे बम्बई आ गए। कुछ दिनों के बाद अली बख्शा साहब के साथ लाहौर चले गए। कुछ दिनों बाद कलकता के संगीत सम्मेलन में इनको गाने का मौका मिला। इसके अलावे 1944 ई. के बम्बई आखिल भारतीय संगीत सम्मेलन नवम्बर 1944 ई. में बंगाल तथा बिहार में होने वाले संगीत सम्मेलनों में इन्होंने भाग लिया।

रहमान बख्शा साहब किराने घराने के प्रसिद्ध सारंगी वादक थे। सारंगी पर प्रधान रूप से ये जोड़ आलाप ही बजाया करते थे। राग के स्वरूप का सही प्रदर्शन इनकी विशेषता थी। साथ ही ये स्वर-विस्तार की बहुत अच्छा करते थे। इनको सारंगी की शिक्षा अपने ही घराने से मिली। ये जयपुर के गुजन खानों में नियुक्त रहे। इनके दोनों पुत्र बड़े मजीद खाँ और छोटे हमीद खाँ भी सारंगी बजाने में निपुण थे किन्तु बाद में दोनों ने ही सारंगी छोड़कर गाना सीखा और उसमें अच्छी ख्याति अर्जित की। ये आरम्भ में तो जयपुर में रहे किन्तु बाद में बिहार और बंगाल की तरफ चले गए।

उदयपुर निवासी गिरधारी लाल सारंगी के सुघड़ वादक थे। ये बहुमुखी प्रतिभा के घनी थी। सारंगी वादन के अलावे गायकी की शिक्षा इन्होंने जकरूधीव खाँ डागर से प्राप्त की। ये ध्रुपद-धमार, ख्याल आदि को अच्छी प्रकार से गा लेते थे। इसके अलावे ये कुशल नाटककार एवं नृत्याचार्य भी थे। बाद के दिनों में ये सारंगी छोड़ गायन में ही ज्यादा ध्यान दिया।

उपर्युक्त उदाहरणों के अलावे ऐसे दर्जनों ख्याति प्राप्त सारंगी वादक हुए जिन्होंने सारंगी छोड़ कोई दूसरा साज या गायन को गले लगा लिया।

यह विडम्बना है कि श्रेष्ठतम होने के बावजूद सारंगी उपेक्षित एवं

अछूत जैसी रही है। शास्त्रीय संगीत में आज तक सारंगी को उपयुक्त स्थान नहीं मिल सका। वहीद खां जैसे अनेक श्रेष्ठ सारंगी वादकों ने सारंगी छोड़ गायन को अपना लिया। यह एक चिन्तीय विषय है कि अन्य वाद्यों की अपेक्षा सारंगी वादकों की संख्या लगातार घटती जा रही है।

असीमित क्षमता, विस्तृत कल्पना क्षेत्र तथा अद्वितीय माधुर्य के बावजूद संस्थागत शिक्षण प्रणाली के युग में सारंगी उपेक्षित है। प्रायः पाठ्यक्रमों में सारंगी वादन जैसे पाठ्यक्रम है नहीं और जहाँ है भी शिक्षक व्यवस्था और अध्यापकों के अभाव में निष्प्रभाव है। देश के अधिकतर शिक्षण संस्थाओं, विश्वविद्यालय तथा संगीत महाविद्यालयों में सारंगी वादन शिक्षा की कोई व्यवस्था ही नहीं है। सितार, तबला, सरोद, वायलिन, बाँसुरी आदि की भाँति सारंगी वादन के नियमित कक्षाओं की उचित व्यवस्था नहीं है। प्रारम्भ से लेकर उच्चतम कक्षाओं तक सारंगी का कोई ठोस पाठ्यक्रम नहीं है।

सारंगी की इस दुर्दशा पर संगीत संस्थाओं का भी ध्यान नहीं जा रहा है। जहाँ ध्रुपद के संरक्षण के लिए ध्रुपद महोत्सव, सरोद महोत्सव, सितार महोत्सवों का आयोजन हो रहा है लेकिन किसी संगीत प्रेमी या संगीत संस्थाओं का सारंगी पर ध्यान नहीं जा रहा है।

गायन के अतिरिक्त नृत्य, सितार, सरोद, वायलिन आदि वाद्यों के कलाकारों में महिला कलाकारों की बड़ी संख्या मिलती है। परन्तु सारंगीवादन के क्षेत्र में एक भी महिला कलाकार का नाम नहीं लिया जा सकता।

घरानों की दृष्टि से सारंगी वादकों के घराने की संख्या सीमित है। दिल्ली तथा सोनीपत में सारंगी वादकों की परम्परा मिलती है। जीविका के कारण इस घराने के अनेक सारंगीवादक कलकता, दरभंगा, पटियाला, अम्बाला आदि जगह चले गए।

हालांकि सारंगी वादकों की गौण भूमिका के कारण उनकी प्रतिष्ठा के साथ-साथ आर्थिक मूल्यांकन का भी अभाव होता रहा है। आज भी सारंगी कलाकार उपेक्षित रहते हैं। सारंगी कलाकारों की

हमेशा से शिकायत रहती है कि आयोजक गायन कलाकार पर हजारों खर्च कर देते हैं पर सारंगी वादक को सैकड़ों में ही सिमट कर रहा जाना पड़ता है। आयोजक गायक कलाकार पर पाँच-दस हजार खर्च कर देते हैं पर सारंगी वादक को मुश्किल से हजार रूपये प्राप्त होता है। संगीत सम्मेलन के पाँच सात कलाकारों की संगत करने अथवा अनेक संगीत सम्मेलनों में परिश्रम पूर्वक संगत करने के बाद भी सारंगी के कलाकार को कुल मिलाकर एक दो गायक, अन्य कलाकारों के बराबर भी पारिश्रमिक नहीं मिल पाता। इसके अलावे हारमोनियम, वायलिन पर संगत का प्रचलन होने के कारण सारंगी कलाकारों की आय में कटौती हुई है। प्रायः संगीत सम्मेलनों में गायक कलाकार कई होते हैं लेकिन संगत करने वाले कलाकार सीमित होते हैं। संगीत सम्मेलनों में गायन, नृत्य के कलाकार अनेक हो सकते हैं परन्तु सारंगी वादकों की संख्या एक या दो से नहीं बढ़ पाती। यह विचित्र विडम्बना है कि सर्वगुण साधक होने के बावजूद सारंगी को निम्नतम स्थान दिया जाता है। वादन के अतिरिक्त गायन के विभिन्न अंगों तथा ताल लय की गहन जानकारी के बावजूद कलाकार को न तो सम्मान मिल पाता है और न ही धन। परिणाम स्वरूप आज अन्य कलाकारों की अपेक्षा सारंगी के कलाकारों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति गिरती जा रही है।

वस्तुतः अब तक सारंगी वादन की समुचित अभिव्यक्ति को न तो पर्याप्त अवसर दिया गया है और न सारंगीवादन तथा कलाकार का मूल्यांकन ही हुआ है। गायन में साथ देने वाले संगीत शिक्षारत शिष्यों तानपूरा वालों की भांति सारंगी वादक के प्रति दृष्टिकोण नितांत अन्यायपूर्ण है। इस दृष्टिकोण ने सारंगीवादकों की स्थिति तथा भविष्य को प्रतिकूल ढंग से प्रभावित किया है। यद्यपि सारंगी कलाकारों से अपेक्षाएँ पर्याप्त की जाती हैं। गायन के सभी अंगों का पंडित हो, ध्रुपद से लेकर लोकगीतों, भजन दादरा, गजल तक गायन की प्रत्येक हरकत को हूबहू सारंगी पर निकालने की क्षमता तथा प्रतिउत्पन्नमति हो गायक को अपनी सुविधानुसार क्लिष्टतम तान आदि की पूरी स्वतंत्रता रहती

है परंतु संगत करने वाले को एक सेकेण्ड की देर लिए बिना पलक मारते सारंगी पर निकालना है। लय तथा पकड़ मजबूत हो भले मुख्य गायक अथवा कलाकार बेताला हो जाए अर्थात् गायन, अपने आप वादन में पूर्ण पारंगत होने के साथ मुख्य कलाकार की प्रत्येक हरकत का प्रति उत्तर देने की अभूतपूर्व क्षमता से स्वतंत्र हो। मुख्य कलाकार से कही अधिक श्रेष्ठ एवं गुण सम्पन्न होना चाहिए। इसके बावजूद मुख्य कलाकार के प्रति सह कलाकार की अपेक्षा उनके शिष्यों की भांति विनम्र एवं समर्पित। बिरले सहृदय कलाकर संगत करने वालों को उचित स्थान दे पाते हैं।

संगत करने में कोई बुराई नहीं है परन्तु पिछलग्गू रूप से नहीं। सारंगी संगत में पिछलग्गू साज के रूप में स्थापित रही है। एक बार एक सुप्रसिद्ध सारंगी वादक ने खीझकर कहा था, “जब सारंगी वादक तथा गायन में घनिष्ठ समानता है, सारंगी पर गायन की प्रत्येक अंग, चलन, सूक्ष्मता, अभिव्यक्ति संभव है तो केवल सारंगी वादक से ही यह आशा क्यों की जाती है कि वह गायक की सदैव नकल करता रहे, सारंगी से निकली चार बातें गायक अपने गले से निकालकर क्यों नहीं दिखाते। सारंगी कलाकारों को उभरने का पर्याप्त मौका नहीं दिए जाते तो उचित पारिश्रमिक एवं सम्मान से ही वे वंचित रह जाते हैं। वाद्यों में सबसे कठिन एवं सुमधुर वाद्य सारंगी, की धरोहर को बचाना संगीत जगत के हर उस व्यक्ति का परम कर्तव्य है जिसे संगीत के सुरों से लगाव है।

इस वाद्य के संरक्षण के लिए सबसे आवश्यक है कि इस वाद्य से जुड़ घरानेदार कलाकारों के पास इसे सीखने के इच्छुक बच्चों एवं युवाओं को भेजने की सरकारी स्तर पर व्यवस्था हो, साथ ही गुरुओं को उचित मानदेय दिया जाय जिससे वे मन से सारंगी शिक्षण दे सके। शिक्षकों के साथ-साथ शिक्षार्थियों को भी मासिक छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जानी चाहिए। क्योंकि बांदा घराने के केवल तीन चार परिवार ही बचे हैं जो सारंगी को अब भी सीने से लगाये हुए हैं। सारंगी वादन की परम्परा घराने में आज तक चली आई है। इस तरह बचे हुए इन

कलाकारों को यदि सरकारी संरक्षण मिले तो इनके पास रोजी रोटी की समस्या नहीं होगी।

राज्य सरकारें, कला संस्कृति विभाग, संस्कृतिक मंत्रालय एवं संगीत की स्थापित संस्थाएँ इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं। आज कला, संस्कृति एवं विभिन्न आयोजकों द्वारा सरकारी पैसा पानी की तरह बह रही है ऐसे में सरकारी स्तर पर शिक्षार्थियों को प्रोत्साहन देकर उनका उत्साह-वर्द्धन किया जा सकता है जिससे नई पीढ़ियाँ सारंगी सीखने के लिए उन्मुख हो सकती है।

कोई भी साज जब तक रोजगारोन्मुख नहीं होगी तब तक उसका विकास नहीं हो सकता। विलुप्त हो रहे सारंगी को भी बचाने के लिए इसे रोजगारोन्मुख बनाना बहुत जरूरी है। मानव कंठ के समीप एवं शास्त्रीय ख्याल एवं ठुमरी गायक, लोकसंगीत भजन, गजल आदि में समान रूप से संगत करने वाले साज सारंगी को देश के सभी आकाशवाणी एवं दूरदर्शन केन्द्रों में स्थायी सारंगी वादकों की नियुक्ति होनी चाहिए। आकाशवाणी के स्थापना के बाद आकाशवाणी के केन्द्रों में स्टाफ कलाकर नियुक्त होते थे। इस क्रम में आकाशवाणी केन्द्रों में कई सारंगी वादक नियुक्त हुए परन्तु अब इन पदों पर नियुक्ति बंद हो चुकी है अब अनुबंध के आधार पर सारंगी कलाकारों को बुलाया जाता है। ऐसे में आवश्यक है कि स्थायी नियुक्ति हो जिससे सारंगी सीख रहे युवाओं को रोजगार मिल सके।

इस तरह समाज में सारंगी वाद्य तथा उसके वादन कलाकारों के प्रति आकाशवाणी एवं दूरदर्शन ठोस प्रयास करे तो निश्चित तौर पर बदलाव आएगा और इन सारंगी वादकों को नवीन अस्तित्व में देखा जाएगा।

संस्थागत संगीत शिक्षण प्रणाली के युग में भी सारंगी अपेक्षित है। प्रायः पाठ्यक्रम में सारंगी वादन जैसा पाठ्यक्रम है ही नहीं। जहाँ है वहाँ भी शिक्षण व्यवस्था तथा अध्यापकों के अभाव में निष्प्रभावी है। देश के अधिकतर शिक्षण संस्थाओं विश्वविद्यालयों संगीत महा-विद्यालयों में सारंगीवादन शिक्षा की कोई व्यवस्था कहीं भी नहीं है।

इस तरह जहाँ पाठ्यक्रम में सारंगी को अब तक स्थान नहीं मिला है प्रारम्भ से लेकर उच्चतम कक्षाओं तक सारंगीवादन के लिए पाठ्यक्रम तथा उच्चतम शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

इस तरह पाठ्यक्रमों में सारंगी को शामिल कर शिक्षण व्यवस्था को सुदृढ़ कर अध्यापकों की नियुक्ति कर विश्वविद्यालयों संगीत महाविद्यालयों में शिक्षण व्यवस्था कर सारंगी कलाकारों को सम्मानपूर्वक जीविकोपार्जन तथा रचनात्मक अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

इस तरह समान रूप से लोक संगीत, शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्रीय संगीत में उपयोगी साज सारंगी के प्रति कलाकारों एवं संगीत सुधिजनों को दृष्टिकोण बदलने की जरूरत है।



बिहार की विशिष्ट ध्रुवपद परम्परा

अरविन्द कुमार

बिहार भारत की सबसे अधिक समृद्ध सांस्कृतिक इकाइयों में से एक है। इतिहास के हर काल-खण्ड में यहाँ की संस्कृति को समृद्ध करने में संगीत कला की विलक्षण उपस्थिति पाते हैं। वर्तमान में यहाँ ध्रुवपद गायकी का सर्वत्र प्रचार-प्रसार है। इस गायकी को स्थापित करने में यहाँ के राजा-महाराजाओं, जमींदारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्हीं के कारण इस अंग के कलावन्त-पंडित राजाश्रय हेतु यहाँ आये। विभिन्न वाणी के ज्ञाता ध्रुवपदकार विभिन्न दरबारों में अपनी कला के प्रदर्शन हेतु दरबारी संगीतज्ञों के रूप में रखे गये। ये जहाँ रहे वहीं अपनी परम्परा को समृद्ध करते हुए अपने आश्रयदाताओं के पंसदानुरूप अपनी कला को कलात्मक स्वरूप निखारते हुए अपने आप को स्थापित किया।

ध्रुवपद गान छन्द-प्रबन्ध की अगली कड़ी है। 15वीं शती में राजा मानसिक तोमर द्वारा प्रचलित यह गान विधा 16वीं शती तक भारतीय संगीत की प्रतिष्ठित गान-शैली बन गयी थी। इसके विकास में मानसिंह तोमर तथा उनके दरबारी संगीतज्ञों जैसे-बैजू, बख्शु आदि के साथ अन्य अनेकों गायकों तथा रचनाकारों का योगदान रहा है। हरिदास स्वामी, तानसेन, समोखन सिंह, रामदास जैसे धुरंधर संगीतज्ञों ने इस शैली को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचाया। तुलसीदास, अष्टछाप के कवि-संगीतज्ञों आदि ने भगवत सेवा के अनुकूल पदों की रचना की जिससे इस गायकी का प्रचार-प्रसार अधिक हुआ।

ध्रुवपद के पदों में छन्द बंधन अनिवार्य नहीं है। इसमें प्रयुक्त पदों

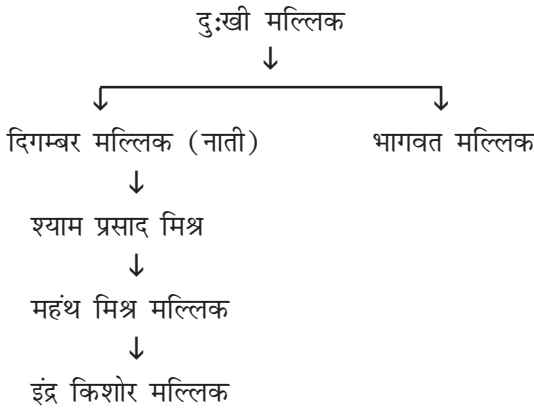
का विनियोग सभी रसों में किया जाता है और भाषा देशी होती है। ऐसा वर्णन 'मानकुतुहल' नामक ग्रन्थ में आया है। अबुल-फजल ने 'आईने-अकबरी' में इस गायकी के सम्बन्ध में कहा है कि 'ध्रुवपद तीन या चार लायबद्ध पंक्तियों से निर्मित पद है। इनका प्रधान विषय उन व्यक्तियों की प्रशंसा होती है, जो अपने पौरुष अथवा गुणों के कारण प्रसिद्ध होते हैं। जिस गीत में कृष्ण की स्तुति हो उसे अबुल-फजल ने 'ध्रुवपद' न कहकर 'विष्णुपद' कहा है। इनकी दृष्टि में ध्रुवपद गानेवाले 'कलावन्त' हैं और सम्भवतः विष्णुपदों को गाने वाले 'कीर्तनिया'।¹ बाद के सभी विद्वानों ने दोनों को 'ध्रुवपद' कहा है।

ध्रुवपद ग्वालियर में विकसित होकर दिल्ली में ख्यात हुई और बिहार में आकर समृद्ध हुई। इसी समृद्धि का प्रतिफल है कि यहाँ इस शैली की परम्परा स्थापित हुई। इस परम्परा में बेतिया, दरभंगा और डुमरांव घराने की नींव पड़ी।

बेतिया घराना:

संगीत की प्रमुख घरानों में से एक बेतिया घराना है। जो बेतिया राजदरबार में विकसित हुई। इस घराने की स्थापना राजा युगलकिशोर सिंह (1762-1783) के समय से मानी जाती है। ये खुद पखावज बजाते थे। इन्होंने अपने पुत्र वीर किशोर (1783-1816) को ध्रुवपद गायन की शिक्षा दिलवाई थी। इनके समय में बहुत से संगीतज्ञ देश के विभिन्न भागों से आकर अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। इन्हीं में से एक संगीतज्ञ पं. शिवदयाल मिश्र थे जो नेपाल के महाराजा रनबहादुर शाह के दरबारी संगीतज्ञ रहीमसेन-करीमसेन के शिष्य थे। इनको महाराजा ने अपने कुमार आनंद किशोर एवं नवल किशोर को शिक्षा देने के लिये रख लिया। ये चारों वाणी के जानकार थे, इस कारण ये दोनों कुमारों को चारों वाणी की उत्तम शिक्षा प्राप्त हुई। ये दोनों कुमार गायन के साथ-साथ बंदिश रचना में भी कुशल थे। इन दोनों ने सहस्रों ध्रुवपदों की रचना की, जो चारों वाणियों में उपलब्ध है। इनके बंदिशों में काली स्तुति, ऋतु वर्णन के पद अधिक हैं। इनकी

दुःखी मल्लिक, भरथी मल्लिक, गोपाल मल्लिक, बुधु मल्लिक, बाँके मल्लिक, गोरख मिश्र, कुंजबिहारी मल्लिक, राजकिशोर मल्लिक आदि प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुए। वर्तमान में इस परम्परा के संवाहक संगीतज्ञ महंथ मिश्र के पुत्र इंद्रकिशोर मिश्र (मल्लिक) तथा राजकिशोर मल्लिक के पुत्र अरूण कुमार मिश्र हैं।



महाराज आनंद किशोर (1816-1832) एवं नवल किशोर (1832-1855) की परम्परा में सबसे सुयोग्य ज्ञानी जयकरण मिश्र हुए। इनके शिष्यों में पं. भोलानाथ पाठक हुए जिनसे पं. शिवकुमार मित्रा ने शिक्षा प्राप्त कर चारों वाणी के प्रसिद्ध ध्रुवपद गायक के रूप में ख्यात हुए। वर्तमान में आपके पुत्र फगुनी मित्रा इस घराने के कृति स्तम्भ है।

इस घराना में मुख्य रूप से आनंद किशोर, नवल किशोर, महारानी शिवतारा कुवर के साथ सेनिया परम्परा की वंदना का गायन किया जाता है।

कुछ लोगों का विचार है कि राजा गजेन्द्र सिंह (1659-1664) के दरबारी संगीतज्ञ चमामरी मल्लिक और कंगाली मल्लिक द्वारा जब घराने की स्थापना हुई। गायक ये दोनों संगीतकार (वीनकार) कुरुक्षेत्र के पास अमोलक (अमलो) ग्राम के रहने वाले थे। इन्होंने दिल्ली दरबार में प्रतिष्ठा न मिलने के कारण ये लोग बेतिया आ गये थे।

बेतिया इन दोनों का कोई सम्बन्ध बाद के संगीतज्ञों से नहीं मिलता। इस घराने की गायकी का अवलोकन करने पर निम्न विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं-

1. संक्षिप्त आलाप एवं स्वर का मधुरता से लगावा।
2. बेतिया का गान (ताल में)
3. सम्पूर्ण गायन में लय का कोई बदलाव नहीं।
4. बोल-बाँट वर्जित।
5. ख्याल की तरह विस्तार वर्जित।
6. बंदिश में हेरा-फेरी किए बिना रागानुकूल गायन।

डॉ. मनोरमा झा जो कुंज बिहार मल्लिक के संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी के अनुसार, “बेतिया घराने की गायन-शैली पर हवेली-संगीत की गायकी की छाप दृष्टिगत है। इस घराने में शुद्ध उच्चारण, सच्चा स्वर आदि के साथ बंदिशों का गायन किया जाता है। लयकारी का कार्य न के बराबर किया जाता है। यहाँ की बंदिशों का गठन इस प्रकार है कि लयकारी के लिए जगह ही नहीं है। लयकारी करने से बंदिश के स्वरूप नष्ट हो जायेंगे।²

दरभंगा घराना:

यह घराना दरभंगा महाराज के दरबारी संगीतज्ञों द्वारा स्थापित है। महाराज ने अपने दरबारी संगीतज्ञों को डामता, गंगदह और हथौड़ी गाँव में जमींदारी देकर बसाया था। कहा जाता है कि इस घराना के आदि पुरुष पं. राधाकृष्ण और कर्ताराम थे जिन्होंने दरभंगा महाराज माधव सिंह (1775-1807) के दरबार में दरबारी संगीतज्ञ के रूप में नियुक्त हुए थे। महाराज ने इन्हें अमता गाँव की पाँच सौ बीघे की जागिर दे कर बसाया था। इनके पूर्वज राजस्थान के रहने वाले थे। विभिन्न राजदरबारों से होते हुए ये दोनों भाई दरभंगा राज में रहने लगे। कुछ लोगों का विचार है कि सर्वप्रथम इनके खानदान के लोग बिहार के वैशाली जिला के घटारो (हाजीपुर के निकट) गाँव में बसे।³ जिनका कार्य संगीत के कार्यक्रम देना था। इस गाँव में अभी भी इस परम्परा के लोग रहते हैं, जिसमें पं. महापुरुष मिश्रा (तबला वादक) प्रसिद्ध

हैं।

पं. रामचतुर मल्लिक के अनुसार 'पं. राधाकृष्ण और पं. कर्ताराम ने संगीत की शिक्षा भूपत खाँ (महारंग) से ली थी।⁴ भूपद खाँ तानसेन परम्परा के संगीतज्ञ थे। लेकिन यह बात सही नहीं है क्योंकि मल्लिक परम्परा से संगीत की खेती करते रहे हैं। इनकी शिक्षा-दीक्षा अपने परिवार या अपने रिश्तेदारों द्वारा ही होती रही है। कर्ताराम की वंश परम्परा निम्न है⁵-

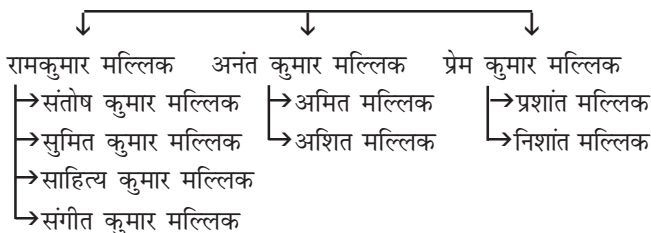
पं. कर्ताराम पं. कन्हैया मल्लिक पं. नेहाल मल्लिक पं. राजितराम पं. रामचतुर मल्लिक पं. अभय नारायण मल्लिक (शिष्य)।

इस परम्परा के पद्मश्री रामचतुर मल्लिक और पद्मश्री सियाराम तिवारी ने जन-जन तक अपनी गायकी को पहुँचाया। इस घटना के नायक छितिपाल मल्लिक थे। ये घनगाई (रोहतास) के थे। महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह के समय में दरबारी संगीतज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित रहे। इनसे राजितराम मल्लिक और रामचतुर मल्लिक ने संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। ये दोनों भी दरभंगा राज के मुलाजिम थे। राजितराम मल्लिक ने 'राग रत्नाकर' और 'भक्त विनोद' जैसी पुस्तक की रचना की थी। पं. राजितराम मल्लिक के शिष्य एवं भतिजा सुखदेव सिंह मल्लिक थे। इनका वंश परम्परा निम्न है⁶-

सुखदेव सिंह मल्लिक

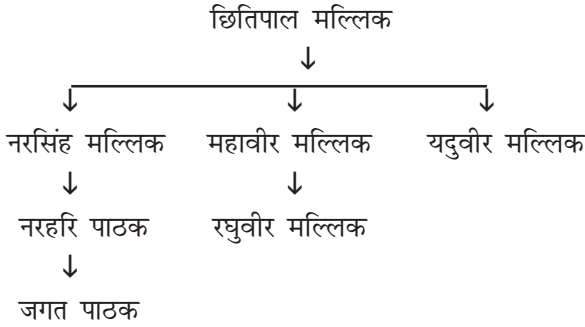


पं. विदुर मल्लिक



पं. सियाराम तिवारी का अमता में ननिहाल था। इन्होंने अपने नाना

पं. विष्णुदेव पाठक से शिक्षा प्राप्त की थी। पं. छितिपाल मल्लिक के ममहर अमता गाँव में था। चंदेराम चतुर मल्लिक के चाचा लगते थे। इनका वंश परम्परा निम्नवत है⁷-



दरभंगा (अमता) घराना में और भी उद्भट गायक हुए हैं जिन्होंने हरा अंग की गायकी को एक नया आयाम दिया है। इस घराने की प्रमुख विशेषता निम्न है-

1. नोमतोम की अलापचारी का अनोखा ढंग।
2. विशेष तरह एवं बहुत से प्रकारों के गमक का प्रयोग।
3. गायकी में राग-विपम, अतीत-अनाघात की तरकीबों को खुबसूरती से प्रयोग।
4. प्रस्तुति में चैनदारी।
5. गायन रागात्मक, तालात्मक और रसयमक की जाती है।
6. ध्रुवपद अंग के साथ ख्याल, ठुमरी, विद्यापति के पद गायन में दक्ष।

डुमरांव घराना:

मुख्य रूप से डुमरांव महाराजा के दरबारी संगीतज्ञों द्वारा इस घराने की स्थापना की गई है। डुमरांव के पास कई गाँव जिसमें मुख्यरूप से धनगाई प्रसिद्ध है। इन गाँवों को ध्रुवपद अंग के संगीतकारों की साधना स्थली होने का गौरव प्राप्त है। ये गोड़ ब्राह्मण मल्लिक, मिश्रा, दूबे, पाठक, उपाध्याय आदि उपाधि धारक हैं। इस घराने की परम्परा का आविर्भाव पं. मानिक चंद दूबे एवं पं. अनुपचंद दूबे द्वारा हुआ। इनके

पिता पं. ज्ञान दूबे थे। दोनों भाई कुशल गायक थे। जनश्रुति है कि इन्हें मुगल सम्राट शाहजहां के काल में दिल्ली दरबार द्वारा 'मल्लिक' की उपाधि दी गई थी। इन्हीं के वंशजों में पं. तिलक दूबे के पुत्र पं. श्यामदत्त दूबे उपनाम 'घनांगर' ने इस घराने को फलक प्रदान किया। ये उत्तम वाग्योपकार थे। ये डुमरावं महाराजा के दरबार में राजगायक के रूप में प्रतिष्ठित थे। एक बार महाराजा ने यह जिज्ञासा प्रकट की कि ये ऐसी एक रचना करें जो तुलसीकृत रामचरित मानस की तरह हो। महाराजा रामोपासक थे और घनारंग जी कृष्णोपासक। बहुत ही कशमकश की स्थिति हो गई। फिर भी कुछ सोचकर घनारंग जी ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे प्रयास करेंगे। कुछ दिनों के बाद उन्होंने ऐसी कृति तैयार कर डाली। इसमें माँ यशोदा श्री कृष्ण को श्री राम-कथा सुना रही हैं। इस कृति का नाम 'कृष्ण रामायण' या 'कृष्णापन' रखा। इस कृति में संगीत विषयक चौपाइयाँ, दोहा, छन्द, कवित्व के साथ ध्रुवपद, धमार, चतुरंग, सरगम, चैती, झूला, भजन आदि की वंदिश लिखी गई है। इस ग्रंथ का प्रकाशन 'नवल किशोर प्रेस', लखनऊ से हुआ था। इनका सुकोमल-लालित्य रचना करने में कोई जोड़ नहीं है।

घनारंग निःसंतान थे। इन्होंने अपने भ्रातृपुत्र पं. बच्चू दुबे को संगीत की शिक्षा देकर इस घराने को आगे बढ़ाया। बच्चू दुबे पं. पदारथ दुबे के पुत्र थे। इन्होंने अपने दादा पं. माणिकचंद दुबे से भी मार्गदर्शन पाया था। ये भी डुमरावं महाराज के दरबारी संगीतज्ञ थे। ये ध्रुवपद-धमार जैसी गंभीर गान-विधा को भी इतनी सरलता से प्रस्तुत करते थे कि सामान्य श्रोता भी मंत्रमुग्ध हो उठते थे। ये 'प्रकाश' उपनाम से संगीतिक रचनाएँ करते थे। इन्होंने 'भैरव प्रकाश', 'सुर प्रकाश' एवं 'रस प्रकाश' नामक ग्रंथ की रचना की है जिसमें अनेक ध्रुवपद-धमार, सरगम, स्वर-सार्थक, निमात्रिक, निरोष्टिक, भजन, होली, कजरी, झूला, चैती इत्यादि की रचना की है।

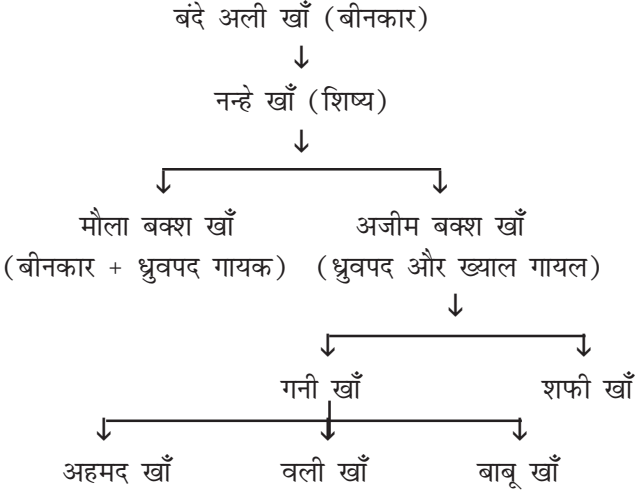
पं. बच्चू दुबे के शिष्यों में पं. युदीन पाठक (सितार), पं. विश्वनाथ पाठक, पं. जैमिनी पाठक, रघुनंदन दुबे और सहदेव दुबे

प्रमुख हैं। इसी परम्परा में पं. रामप्रसाद पाण्डेय, पं. रामलाल दुबे, पं. जवजतन मल्लिक, पं. शवभजन मल्लिक, पं. राजरतन मल्लिक, पं. पदार्थ मल्लिक, पं. राधिका दुबे, पं. पृथ्वी दुबे, पं. सरयुग पाठक आदि हुए हैं। पं. रामलाल दुबे के पुत्र पं. अवधेश कुमार दुबे और गोपालजी दुबे हुए, जो इस अंग के विद्वान संगीतज्ञ थे। ये अवधेश कुमार दुबे के पुत्र कमलेश कुमार दुबे हुए जो भारतखण्डे, लखनऊ में कार्यरत हैं।

डुमरांव एवं दरभंगा के गुणियों का सम्बन्ध एक-दूसरे से रहा है, जिसके कारण एक-दूसरे की विशेषताओं को आत्मसात कर गायकी को कलात्मक बनाया गया है। हथौड़ी ग्राम (दरभंगा) के पं. सरयुग पाठक का ससुराल इसी घराने में था। इन्होंने अपने ससुर से इस घराने के शिक्षा प्राप्त किया था। इनके पुत्र पं. सत्यनारायण पाठक (मुजफ्फरपुर) ख्याल गायक हैं लेकिन उनके नाती पं. रामजी मिश्र एवं पोता डा. कामोद पाठक ध्रुवपद गाने में दक्ष हैं। पं. रामजी मिश्र इसी घराने के पं. बालेश्वरनाथ मिश्र के पुत्रा हैं जो पं. बच्चू दुबे के पौत्र थे। इस घराने में निम्न विशेषता दिखाई पड़ती है^६-

1. ध्रुवपद-धमार के साथ-साथ कठिन सरगम, चतुरंग, राजमाला, त्रिवट, नतांग आदि गाने की परम्परा।
2. साहित्यिक गान, छन्दगान, अष्टपदीय गान, षाडवपदीय गान, स्वर साकार या सार्थक गान आदि गाने में दक्षता।
3. अप्रचलित रागों का प्रचलन, जैसे-मोहनि, गोहनी, स्नेहा भैरवी आदि।
4. नोम-तोत के आलाप में खास तरह के गमकों का प्रयोग।
5. लयकारी में दक्षता।

दरभंगा राज में किराना के संगीतज्ञों की परम्परा का विकास हुआ। किराना के उस्ताद नन्हें खाँ के शागिर्द अजीम बख्श एवं मोलाबख्श थे। ये दरभंगा महाराज के मुलाजिम थे तथा ध्रुवपद गाते थे। बाद में इनका परिवार मुजफ्फरपुर में बस गया था। ये अपने शिष्यों के चारों पट की शिक्षा दी थी। इनकी वंश परंपरा इस प्रकार है-



उपर्युक्त के अलावे गिद्धौर राज में भी ध्रुवपद गान की परम्परा रही है। यहाँ विविध जगहों पर भी हम गायकी के संगीतज्ञ मिल जाएँगे। वर्तमान में भी यहाँ के संगीतज्ञों ने अपने सौन्दर्य बोध एवं कल्पना से इस गायकी को निरन्तर उन्नत तथा जीवन परम्पराओं के नवोन्मेष के साथ पूर्ण शाश्वत मूल्यों को स्थापित करने में संलग्न हैं।

संदर्भ:

1. वृहस्पति, आचार्य कैलाश चन्द्र देव, ध्रुवपद और उसका विकास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1976, पृ. 245
2. झा, डॉ. मनोरमा द्वारा दिये गये व्याख्यान के आधार पर।
3. सिंह, गजेन्द्र नारायण, बिहार की संगीत परम्परा, तक्षशिला एजुकेशनल सोसाईटी, दिल्ली, द्वि.सं. 2011, पृ. 64.
4. वही, पृ. 64.
5. पं. सत्यनारायण पाठक (मुजफ्फरपुर) से प्राप्त।
6. उन्हीं से प्राप्त।
7. उन्हीं से प्राप्त।
8. कुमार, डॉ. अरविन्द, अभिषेक संगीत पल्लव, सारस्वत प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, पृ. 94



संगीत (गायन) में भाव-संप्रेषण के आधार

अणिमा श्रीवास्तव

संगीत मानव जीवन का वह शुभ्र एवं दैदीप्यमान शाश्वत अलंकरण है जिसकी दीप्ति मानव हृदय को सदैव आलोकित करती रही है। इसलिए संगीत के आनन्दसुख और प्रभाव को सार्वभौमिक कहा गया है। इस अजस्र प्रभाव में निहित भाव ही संगीत का प्राण-तत्व है। संगीत अगर शरीर है तो भाव उसकी आत्मा। सरस भावों के संप्रेषण से ही संगीत चैतन्य हो प्रकृति नटी के चराचर रूप में व्यक्त विराट स्वरूप का रसास्वादन करा कर आत्म तृप्ति की स्थिति तक पहुँचा पाता है।

किसी भी कला का मेरूदण्ड 'भाव' है। भाव मन की थाती है, मन की अनमोल सम्पदा है। भाव हमारे आंतरिक वृत्ति का प्रस्फुटन है, जिसे भावना भी कहते हैं। "अन्तःकरण की प्रवृत्ति या विचारों की लहरें भावना कहलाती हैं।" भावना अधोगामिनी भी है और भवनाशिनी भी। सीमित द्वारा असीमित की अभिव्यक्ति ही भाव का मूल है। भाव के निचोड़ से ही रस की प्राप्ति होती है, जिसका आस्वादन हम संगीत में करते हैं। बिना भाव के संगीत-सुरों की काया मात्र है, जो प्राण विहीन है। किशोरी अमोणकर का कहना है कि "जहाँ भाव नहीं वहाँ स्वर की स्थिति नहीं, शुष्क स्वर लगाने का कोई अर्थ नहीं" कहने का आशय है कि भाव के अभाव में कला कभी भी पल्लवित-पुष्पित नहीं हो सकती है -

“सुखदुःखादिकैर्भावैर्भविस्तद्भावभावनम्”

अर्थात् सुख-दुःख आदि भावों के द्वारा भावक (रसिक) के चित्त को भावित (वासित) करना ही 'भाव' कहलाता है। भाव का संप्रेषण ही सभी कलाओं का उद्देश्य है। माध्यम की पृथकता के कारण कलाओं के विविध रूप हो जाते हैं। संगीत वह केन्द्र है जिसकी एक

छोर पर प्रस्तुतकर्ता और दूसरी छोर पर श्रोता रहता है। एक संगीत के माध्यम से आनन्द देता है और दूसरा उस आनन्द सागर में गोते लगाता है। एक (प्रस्तुतकर्ता) के द्वारा स्वर शब्द, लय-ताल के मधुर सन्निवेश को उत्कृष्ट भावों के प्रलेप से प्रेषित किया जाता है तथा दूसरे (श्रोता) द्वारा उन उत्कृष्ट भावों को अपनी संवेदना के स्तर पर सुग्राह्य किया जाता है। लेन-देन की इस प्रक्रिया को ही संप्रेषण कहते हैं। सफल भाव संप्रेषण के लिए दोनों पक्षों (प्रस्तुतकर्ता एवं श्रोता) में संवेदनाओं के सौन्दर्यानुभूति का पर्याप्त सामर्थ्य आवश्यक है। क्योंकि भाव अनुभूति का विषय है। भावों को अनुभूत कर अभिव्यक्त करना प्रस्तुतकर्ता का मूल ध्येय होता है और उस अभिव्यक्ति से आनन्दरस की अनुभूति करना श्रोता का ध्येय होता है। सौन्दर्यानुभूति मूलतः व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर ही निर्भर करती है।

निःसंदेह संगीत भावों की भाषा है। किन्तु इस भाव को अनुभूत करने की क्षमता सबकी पृथक् है। किन्हीं के लिए वह उदात्त भावों की भाषा हो सकती है तो किन्हीं के लिए कला सौष्टव का आनन्द। “संगीत सुनकर जिनकी हृत्तंत्री झंकृत हो उठती हो, किन्हीं भावों की अनुभूति होती हो, जीवन का रिक्त-पात्र आनन्दानुभूति से भर जाता हो उनके लिए संगीत भावों की भाषा है। लेकिन जो संगीत के श्रवण के समय केवल उसके स्वर-सौष्टव का, लय योजना का राग में स्वरूप का तिहाईयों, खटकों आदि का आनन्द लेते हैं, उनके लिए संगीत के स्वर-लय ही आनन्द का वस्तु होते हैं।”¹⁴ इस तरह भाव संप्रेषण में दो पक्षों का मुख्य रूप से दर्शन होता है। एक आत्मिक भाव सौन्दर्य है जो उदात्त भावों की निर्झरणी से बहता है और दूसरा कला भाव सौन्दर्य, जो कला पक्ष के बाह्य सौन्दर्य जैसे खटके, अलंकार, विविध लय और स्वर सौष्टव से सज्जित है।

संगीत (गायन) में भाव संप्रेषण का आधार बंदिशें होती हैं, चाहे गायन का वो कोई भी प्रकार हो; जैसे-शास्त्रीय हो या उपशास्त्रीय, सुगम या फिल्मी संगीत। ये बंदिशे स्वर, लय-ताल, शब्द को भाव के प्रलेप से सजाकर प्रस्तुत की जाती हैं। अतः संगीत मधुर संप्रेषण के इन

मूल आधारों को संक्षेप में आलोकित करना आवश्यक प्रतीत होता है-

1. स्वर : संगीत का आद्य घटक स्वर है। स्वर वह मूलभूत इकाई है जिसपर संगीत की विविध रचनाएँ मुखरित होती हैं। जिस तरह भाषा के निर्माण में वर्ण एवं शब्द की भूमिका होती है, उसी प्रकार संगीत निर्माण में स्वर और मधुर स्वर सन्निवेशों का संयोग होता है इसलिए स्वर को संगीत की वर्णमाला भी कहा जाता है। स्वर आहत नाद की परिणति है। सांगीतिक स्वर स्वयं समर्थ और शक्तिमान है इसलिए 'स्वयं राजते इति स्वरः' कहा गया है। स्वर वस्तुतः श्वास साधन की प्रक्रिया है। इसे राग ध्वनि का जनक कहा गया है; यथा, "रागजनको ध्वनिः स्वर इति"⁵ और राग शब्द का सीधा संबंध रंजकता से है। इस अर्थ में स्वर में माधुर्य-गुण का होना नितान्त आवश्यक है। रसमय स्वर सन्निवेश से ही संगीत माधुर्य-गुण को प्राप्त करता है। इस प्रकार संगीत में भाव-संप्रेषण हेतु स्वर आनन्दानुभूति का प्रथम चरण है। जिसके द्वारा प्रस्तुतकर्ता, श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने की साधना करता है।

2. लय-ताल : दोनों शब्द (ताल-लय) अभिन्न हैं। अतः इन्हें एक साथ ही समझा जा सकता है। ये तत्त्व संगीत में गति के बोधक हैं, जिससे संगीत परिनिष्ठित और अनुशासित होता है। विश्व के सभी संगीत में लय का प्रवाह है किन्तु 'ताल' पद्धति भारतीय संगीत की विलक्षणता का द्योतक है। 'ताल' गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों तत्त्वों को आधार प्रदान कर प्रतिष्ठित करता है। संगीत में ताल का व्यवहार समय के परिमापक के रूप में होता है। मात्राओं के समय के अनुसार 'लय' का निर्माण होता है अर्थात् क्रिया के तुरन्त बाद होने वाली विश्रान्ति ही 'लय' है। इस प्रकार लय और ताल संगीत में निश्चित और नियंत्रित गति के द्योतक हैं जो संगीत को व्यवस्थित करता है। 'लय' के तीन प्रकार माने गए हैं- 1. द्रुत, 2. मध्य, 3. विलम्बित। तीनों लय एक-दूसरे पर आश्रित हैं। एक को आधार बनाकर अन्य दो को निर्धारित किया जाता है। मध्य-लय 'प्रमाण-कला' को निश्चित रूप देती है। उसी आधार पर द्रुत और विलम्बित लय को निश्चित किया जाता है। इस प्रकार मधुर स्वर सन्निवेश के साथ लय-ताल का

सुसंयोग संगीत में भाव-संप्रेषण को नव गति और नव-प्राण देता है।

3. शब्द : शब्द से ही समस्त संसार भाषित हो रहा है। कल्पना करें अगर शब्द न हो तो क्या अभिव्यक्ति संभव है? सांकेतिक भाषा से ठीक-ठीक ज्ञान संभव है? संसार का सारा ज्ञान, दर्शन, कला आदि सभी का अस्तित्व और अभिव्यक्ति शब्द के रूप में ही संचित है। वाणी का मूल आधार ही शब्द है। शब्द में असीम शक्ति है। विमला मुसलगाँवकर ने वाक्यपदीय का यह अंश शब्द की महत्ता पर प्रकाश डालने के लिए ही लिखा है- “शब्द के द्वारा ही समस्त भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। असमाख्येय और समाख्येय सब प्रकार के अर्थों के बोध का साधन शब्द ही है। शब्दों के द्वारा ही असमाख्येय षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों का यथार्थ रूप से विवेचन किया जाता है और समाख्येय गौः = गाय आदि अर्थों से ही निरूपण किया जाता है। अतएव समस्त अर्थों का आधार शब्द ही है।”⁶

शब्द ही भाव का आलंबन है। शब्द भावना को देह देती है। गाँधी जी का कथन है- “शब्द में चमत्कार भरा होता है। शब्द भावना का देह है और भावना शब्द के सहारे साकार बनती है।”⁷ क्योंकि शब्द से ही अर्थ का बोध होता है। बिना अर्थ के भाव स्पष्ट नहीं होते। शब्द और स्वर का सम्बन्ध जब सार्थक हो तभी संगीत से आनन्दवर्धन सम्भव है। इसी सत्य को श्री बहोरे ने अपने आमुख में स्पष्ट किया है- “शब्द का महत्त्व गायन में है और स्वर के साथ वेणिबंधन से वह अधिक प्राणवाण और प्रभावी होता है।”⁸ स्वर को जब शब्द का अवलम्बन मिल जाता है तो वह और शक्तिशाली हो जाता है तथा उसका प्रभाव हमारी भावनाओं को अन्तर तक प्रभावित कर देता है। स्वर और शब्द का सुसंयोग विलक्षण प्रभावकारी है- “स्वर शास्त्र और शब्द शास्त्र के माध्यम से ही हमारी विचारधाराएँ और भावनाएँ प्रदीप्त होती हैं।”⁹

निष्कर्षतः संगीत (गायन) भाव संप्रेषण का मूलभूत और प्रामाणिक आधार स्वर, लय-ताल, शब्द और भाव है। इनमें से प्रथम तीन तो

साधन है और चौथा 'भाव' द्वारा लौकिक और अलौकिक रसपाक साध्य है। संगीत कला में भाव संप्रेषण तभी सफल हो सकता है जब उसके आधार तत्वों में अर्थात् स्वर, लय-ताल, शब्द में सुन्दर सामंजस्य हो और भाव प्रलेप से वह चैतन्य हो जाए तथा प्रस्तुतकर्ता और श्रोता के मध्य भावात्मक सेतु दृढ़ हो।

संदर्भ :

1. सैकिया, गोपाल दास, जीवन हो तो ऐसा हो, पुस्तक महल, दिल्ली, पृ. 57
2. बहोरे, रवीन्द्रनाथ, भारतीय संगीत विमर्श (आमुख), क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, पृ. 50
3. मालवीय, डॉ. सुधाकर, हिन्दी दशरूपकम्, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, पृ. 233
4. चौधरी, सुभद्रा, संगीत-संचयन, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, पृ. 234
5. क्षीर सागर, डॉ. डी.बी., बृहद्देशी, जयपुर, पृ. 22
6. मुसलगाँवकर, डॉ. विमला, भारतीय संगीत शास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन, संगीत रिसर्च एकेडमी, कलकत्ता, पृ. 6
7. सैकिया, गोपाल दास, जीवन हो तो ऐसा हो, पुस्तक महल, दिल्ली, पृ. 157
8. बहोरे, रवीन्द्रनाथ, भारतीय संगीत विमर्श (आमुख), क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, पृ. 6
9. वाङ्मय, श्रीराम शर्मा आचार्य, शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, पृ. 5-10



घराना एवं शिक्षण संस्थानों में शिक्षण पद्धति : एक अवलोकन

सारिका पटेल

प्रारंभिक काल से ही मानव ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यकतानुसार नित नवीन प्रयोग करना शुरू कर दिया था। ऐसा माना जाता है कि, “आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।” इस कथन को मानव ने अवश्य ही सिद्ध कर दिया है। समयानुकूल कालान्तर में हुए इन प्रयोगों से मानव जीवन के विकास का मार्ग सरल एवं सुलभ हो गया। प्रारंभ से ही भारतीय संगीत को कई उतार-चढ़ाव से गुजरना पड़ा। संगीत प्राचीन काल में तपस्वियों, संतों तथा साधकों के धर्म, आध्यात्म, ध्यान, साधना एवं आत्म संतुष्टि का माध्यम मात्र था। कालान्तर में घराना पद्धति के द्वारा इसके वास्तविक स्वरूप को संजोकर जीवित रखा गया; और, अंततः आधुनिक काल में आई नवीन संगीत शिक्षण प्रणाली से यह सर्वसाधारण के मध्य सुगमता से अपना स्थान स्थापित कर अग्रसर हो रहा है। इस लेख से मेरा संबंध सिर्फ ‘संगीत शिक्षण’ में हो रहे नित नए प्रयोगों से है, उसकी तकनीकी और बदलते हुए शिक्षण पद्धति के स्वरूप से है। प्राचीन शिक्षण व्यवस्था और वर्तमान शिक्षण पद्धति पर प्रकाश डालने का एक छोटा सा प्रयास मात्र है।

सृष्टि के प्रारंभ से ही भारतीय संगीत को विशिष्ट स्थान प्राप्त रहा है। इसने मानव जीवन में अपनी अमिट छाप बनाई हुई है। कालांतर में ऐसा देखा गया है कि अनंतकाल तक वहीं परंपरा जीवित तथा प्रवाहमय रह सकती है जो अपने आपको युग की आवश्यकतानुसार,

समयानुसार और परिस्थिति के अनुरूप ढाल सके। अन्य परंपराओं की तरह ही संगीत परंपरा में भी आशातीत नित नए प्रयोग एवं परिवर्तन हुए। कुछ वर्ष पहले तक लोग अपना सबकुछ छोड़कर संगीत साधना में लीन रहते थे। जैसे-जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे-वैसे शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित होने लगीं। वैदिक काल में परिषद्, शाखा, चरण, मठ, गुरुकुल जैसे संघों की स्थापना हुई।

गुरुकुल का शाब्दिक अर्थ है 'गुरु का परिवार' अथवा 'गुरु का वंश' गुरुकुल से आशय ऐसे विद्यालय से है जहाँ विद्यार्थी अपने परिवार से दूर रहकर गुरु के परिवार का हिस्सा बनकर शिक्षा प्राप्त करता है। प्राचीन भारत में गुरुकुल ही अध्ययन तथा अध्यापन का केन्द्र हुआ करते थे। गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। अधिकतर आचार्य निर्जन वनों में निवास, अध्ययन तथा चिंतन पसंद करते थे। गुरुकुल पूर्णतः आवासीय शिक्षा प्रदान करने का एकांत स्थान होता था जहाँ दूर-दूर से आठ से दस वर्ष की आयु के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। गुरुकुल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी कुल के बच्चे विद्या अध्ययन के लिए आते थे। राजा हो या रंक सभी को अपने गुरु के निर्देशों का, आश्रम के नियमों का पालन समान रूप से करना पड़ता था। गुरुकुल में श्रुति अर्थात् सुनकर याद करने की परंपरा थी, कुछ भी लिपिबद्ध नहीं किया जाता था। सारे बच्चे शिक्षा के साथ-साथ अपनी दिनचर्या के सभी कार्य स्वयं करते थे। वो अपने उपयोग की सामग्री का स्वयं निर्माण करते, अपने खाने की व्यवस्था भी स्वयं भिक्षाटन अथवा खेती के द्वारा करते थे।

गुरु शिष्य परंपरा सदियों से भारतीय संगीत में चली आ रही है। जब भगवान ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, साम से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद की रचना की थी तब नाट्यवेद के ग्रहण, धारण, ज्ञान एवं प्रयोग में देवता असमर्थ थे। तत्पश्चात् देवराज इन्द्र की प्रार्थना पर भगवान ब्रह्मा ने भरतमुनि को नाट्यवेद की शिक्षा प्रदान की। भरतमुनि ने नाट्यवेद की शिक्षा प्राप्त

की और अपने पुत्रों को भी शिक्षित किया। भगवान ब्रह्मा ने स्वाति एवं उनके शिष्यों को वाद्य तथा नारद और गंधर्वों को गानयोग में नियोजित किया।” अभिप्राय यह है कि संगीत में गुरु शिष्य परंपरा प्रारंभ से ही चली आ रही है। यह एक गुरुमुखी विद्या है। इसका वास्तविक ज्ञान गुरुमुख के द्वारा सुनकर, समझकर, कठोर परिश्रम और अथक प्रयास के द्वारा अनुसरण करके ही प्राप्त किया जा सकता है। गुरुकुलों के ही विकसित रूप तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला इत्यादि हैं।

इसी क्रम में परंपरानुसार संगीत के विभिन्न घरानों का जन्म हुआ। घराना शब्द की उत्पत्ति ‘घर+आना’ दो शब्दों के मेल से हुई है। घर आकर अर्थात् गुरु के पास स्वयं जाकर ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही घरानों का निर्माण होता है। साधारण रूप से घराना शब्द का अर्थ होता है- वर्ग, संप्रदाय, परिवार, कुटुम्ब, परंपरा आदि परंतु व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ होता है, रीति, रिवाज, पद्धति, स्टाइल, शैली इत्यादि। संगीत में घराना शब्द से तात्पर्य है, स्वरों का रखरखाव, उनको लगाने की विधि, अल्पत्व-बहुत्व, वादी-संवादी, न्यास-अपन्यास, नाद के गुणों से युक्त ध्वनि, ध्वनि की तीव्रता, मृदुलता, गति इत्यादि। इन्हीं सारी विशेषताओं के आधार पर ही घरानेदार संगीत की उत्पत्ति होती है।

घराना संगीत पद्धति पर श्री विमलकान्त रॉय चौधुरी ने अपनी पुस्तक ‘भारतीय संगीत’ में लिखा है- घर शब्द का अर्थ है ‘वंश’ और घराना शब्द का अर्थ है ‘वंश वैशिष्ट्य’। संगीतज्ञों द्वारा अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन पद्धति का प्रयोग और उसी पद्धति का उनके शिष्यों के द्वारा प्रचार से एक घराना बनता है।” प्रत्येक घराने की अपनी रीति, शैली, कुछ कायदे तथा अनुशासन होते हैं। घराने के प्रतिनिधि कलाकार इनका पालन करते हुए चिंतन, मनन, तथा सौंदर्य बोध के द्वारा इसे समृद्ध बनाते हैं। इस तरह यह परंपरा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। ऐसा माना जाता है कि जब यह परंपरा कम से कम तीन पीढ़ियों तक हस्तांतरित होती है, तब कहीं जाकर एक प्रतिष्ठित घराने का निर्माण होता है।

घरानों का अस्तित्व संगीत के विकास, सुरक्षा एवं समृद्धि की पहचान है। अगर घराने अस्तित्व में न आए होते तो शायद भारतीय संगीत की परंपरागत शैली मध्ययुग और अंग्रेजों के युग में ही सामाप्त हो जाती। भारतीय संगीतकारों ने अपनी कठोर साधना, असीम गुरु भक्ति और शिक्षण पद्धति के द्वारा इसे जीवित रखा है। इस परंपरा के कारण ही हमारी पैतृक सांगीतिक, सांस्कृतिक कला आज भी सुरक्षित है। एक ओर जहाँ घरानों से श्रेष्ठ तथा सफल कलाकारों का जन्म हो रहा था, वहीं यह आम जनता की पहुँच से दूर हो रहा था जिसके कारण जनता इससे लाभान्वित नहीं हो पा रही थी। घरानेदार संगीत शिक्षण पद्धति का फायदा उन्हीं लोगों को मिला जो उनके परिवार के अथवा उनके बहुत करीबी होते थे, इनके अलावा अगर आम जन सीखना चाहता था तो उसे काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। बड़ी मशक्कत के बाद अगर कोई सिखाता भी था तो भेदभाव के साथ बड़े ही अनमने ढंग से। इसी रूढ़िवादी और संकुचित मानसिकता के कारण वे अपना ज्ञान अन्य लोगों को नहीं देते थे। कलाकार अपने संगीत ज्ञान को इतना छिपाकर रखते थे कि वे किसी अन्य जाति वालों को तो क्या अपनी ही जाति के लोगों को बताने में संकोच करते थे। यह संकीर्णता यहाँ तक बढ़ी कि वे संगीत के ग्रंथ तक नहीं लिखते थे। उनका संगीत पीढ़ी दर पीढ़ी चलता तो रहता था परंतु यदि वे निःसंतान होते थे तो उनका संगीत भी उन्हीं के साथ वहीं सामाप्त हो जाता था। इस तरह की संकीर्ण मनोवृत्ति के फलस्वरूप ही संगीत के क्षेत्र में घरानों की नींव पड़ी जिसकी परिपाटी ने संगीत के विकास को अवरुद्ध कर दिया।”³ श्री भगवत शरण शर्मा जी ने अपनी पुस्तक ‘भारतीय संगीत का इतिहास’ में इस बात का वर्णन किया है कि—शासन वर्ग की उपेक्षा, उदासीनता के कारण यह कला व्यवसायी लोगों में जा पहुँची, जिससे संगीतज्ञों में अशिक्षा, मूढ़ता, संकीर्णता और स्वार्थपरता प्रवेश कर गयी। उनके सम्मुख व्यक्तिगत स्वार्थ ही सर्वोपरि हो गया। इसी निजी स्वार्थ के गर्भ में घरानों की नींव पड़ गयी।”⁴ उक्त कथन इस बात की पुष्टि करते हैं कि निजी स्वार्थ और संकुचित

मानसिकता के कारण संगीत जगत में घराना परंपरा का उदय हुआ।

धीरे-धीरे गुरु शिष्य परंपरा से घराना पद्धति का निर्माण हुआ। परंतु निजता और स्वार्थ के कारण यह समाज में स्थायित्व न पा सकी। यह परंपरा आधुनिक काल तक आते-आते विलुप्त होने के कगार पर पहुँच गई थी। आधुनिक काल में संगीत की आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्राचीन पद्धति से नहीं हो सकती थी। अतः समाज के भावी परिवर्तनों का अनुमान करते हुए भारत के महान युग पुरुष पं. वि. नारायण भातखण्डे एवं पं. वि. दिगम्बर पलुष्कर जी ने घरानेदार संगीत पद्धति में सफलतापूर्ण संशोधन किए। पलुष्कर जी ने गुरुकुल और घरानेदार पद्धति का आधार लेते हुए संस्थागत शिक्षण पद्धति की परिकल्पना की, वहीं भातखण्डे जी ने इस नवीन शिक्षण पद्धति के निर्माण हेतु भिन्न भिन्न पाठ्यक्रमों का निर्माण कर संगीत कला को अन्य विषयों के समकक्ष लाने में अहम भूमिका निभाई। संगीत संस्थाओं का सूत्रपात करते हुए पलुष्कर जी ने सन् 1901 को लाहौर में तथा 1908 में बम्बई में 'गान्धर्व महाविद्यालय' की स्थापना की तथा सन् 1926 में लखनऊ में म्यूजिक कॉलेज की स्थापना की। भातखण्डे जी ने कई ग्रंथों की रचना की। उन्होंने सन् 1910 ई. में 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' 1914 में 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति का द्वितीय भाग प्रकाशित कराया। सन् 1918 में 'माधव संगीत विद्यालय की स्थापना की गई जिसका कार्य राला भैया पूँछवाले को सौंपा गया। 1925-26 में 'मैरिस कॉलेज ऑफ म्यूजिक' की स्थापना लखनऊ में की गई जो 'भातखण्डे संगीत विश्वविद्यालय' के नाम से विख्यात है। स्वरलिपि पद्धति का निर्माण कर इस विषय को सरल बनाया, इस प्रकार से आई परिवर्तनशील नवीन शिक्षण प्रणाली ने संगीत को नए मुकाम तक पहुँचा दिया। इस प्रणाली के आ जाने से संगीत विषय को भी अन्य विषयों के समकक्ष ही स्थान मिला। इस प्रकार संगीत का ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त किया जाने लगा। पहली श्रेणी में कई ऐसे संस्थान, विद्यालय एवं विश्वविद्यालय आते हैं, जहाँ केवल संगीत की ही शिक्षा दी जाती है। दूसरे श्रेणी में ऐसे विद्यालय एवं महाविद्यालय आते हैं जहाँ अन्य विषयों के

साथ-साथ संगीत विषय की भी शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार अत्यधिक संख्या में संगीत ज्ञान से छात्र लाभान्वित हो रहे हैं। तब से लेकर आज तक भारतीय संगीत में एक नया अध्याय जुड़ा, सैकड़ों पुस्तकों और ग्रंथों का निर्माण हुआ।

जब शिक्षण संस्थानों में अन्य विषयों की तरह ही संगीत विषय का पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया तो उसमें अधिक से अधिक चीजों का समावेश किया गया, पाठ्यक्रम को समाप्त करने की अवधि भी सीमित रहती है जिससे शिक्षक का पूरा ध्यान पाठ्यक्रम को पूर्ण करने में ही लगा रहता है। गायन, वादन तथा नृत्य तीनों विधाएँ समान रूप से सम्मिलित की गईं। तीनों विधाएँ एक-दूसरे से भिन्न थीं। प्रारंभ में शिक्षण संस्थानों में घरानेदार कलाकारों को ही नियुक्त किया जाता था। इन कलाकारों ने पूर्ण निष्ठा और लगन से शिक्षा देते हुए अपनी एक नवीन परंपरा कायम की, उनकी यह परंपरा गुरुकुल तथा शिक्षण संस्थानों का मिश्रित स्वरूप थी। प्रारंभ में योग्य कलाकारों को भी शिक्षण संस्थानों में सिखाने में विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। क्योंकि यहाँ बच्चों की संख्या घरानों की अपेक्षा अधिक होती थी। बच्चों की लगन, क्षमता, अभिरुचि अलग होने के कारण एक साथ शिक्षा देने में कई तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था।

घरानेदार शिक्षण व्यवस्था में शिष्य एक ही चीज का अभ्यास तब तक करता था जब तक वह उसमें पूर्णतः अभ्यस्त न हो जाय। इसके बाद ही वह दूसरा कुछ सीखता था। इसके लिए उसे कई महीने लग जाते थे। परंतु नवीन शिक्षण पद्धति में ऐसा संभव नहीं है। जैसे-जैसे संगीत की शिक्षण पद्धति में बदलाव आया वैसे-वैसे शिक्षण के प्रति लोगों की रुचि में अन्तर आने लगा। इसी कारण संगीत कला को अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए लगातार जूझना पड़ रहा है।

इस कमी को दूर करने के लिए सरकार और संस्थानों के द्वारा कुछ ऐसे महत्वपूर्ण और ठोस कदम उठाए जाने चाहिए जिससे घराना परंपरा को पुनः जीवित किया जा सके। जिन छात्रों को संगीत में विशेष

रुचि है, उन्हें पूर्व की तरह ही उच्च शिक्षण हेतु गुरु-शिष्य परंपरा की तर्ज पर ही उपयुक्त प्रबंध किया जाना चाहिए। ऐसे घरानेदार कलाकार, अधिकारी तथा शिक्षकगण, जो बड़े-बड़े संस्थानों में पदस्थ हैं, वे इस दिशा में अपना मार्गदर्शन देकर क्रियान्वित कर इस विषय को लाभान्वित कर सकते हैं। जिससे पुनः पूर्व की तरह ही उच्च कोटि के कलाकारों का सृजन हो सके और भारतीय संगीत अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः शिखर के नए आयाम पर विराजने में सफल हो सके।

प्रारंभ से ही भारतीय संगीत को कई उतार-चढ़ाव से गुजरना पड़ा। प्राचीन काल में इसे तपस्वियों, संतों तथा साधकों के आध्यात्म एवं आत्म संतुष्टि का माध्यम मात्र समझा जाता था, परंतु घराना पद्धति के द्वारा इसके वास्तविक स्वरूप को संजोकर जीवित रखा गया। और अंततः आधुनिक काल में आई नवीन संगीत शिक्षण प्रणाली से यह सर्वसाधारण के मध्य सुगमता से अपना स्थान स्थापित कर अग्रसर हो रहा है। वर्तमान में शिक्षण संस्थानों में छात्रों के संगीत ज्ञान अभिवृद्धि के लिए लेख-लेखन, मासिक मंच, व्याख्यान अथवा गोष्ठी, इत्यादि कार्य पर अधिक काम किया जा रहा है जिससे छात्रों को विद्वत गुणीजन कलाकारों को सुनने तथा उनसे मिलने का सुअवसर प्राप्त होता है। एक ही छत के नीचे भिन्न-भिन्न घरानेदार कलाकारों की गरिमामयी प्रस्तुति से छात्र बहुत लाभान्वित हो रहे हैं। छात्रों में अपनी विधा से जुड़े हर घराने की विशेष खूबियों को अपनाने की लालसा रहती है, सभंभवतः वे उसे अपनाते भी हैं। वर्तमान में छात्र किसी एक गुरु के सान्निध्य में नहीं अपितु कई गुरुओं से ज्ञान प्राप्त करता है।

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि सिक्के के दो पहलू की तरह ही दोनों ही प्रणाली के दोनों पहलू (गुण-दोष) सामने आते हैं। एक ओर घरानेदार संगीत संकीर्णता के साथ गुणवत्ता से परिपूर्ण था। वहीं दूसरी ओर नवीन शिक्षा प्रणाली के माध्यम से संगीत कला का ज्ञान आमजन के मध्य आसानी से अपनी जगह बनाने में कारगर सिद्ध हुआ जिससे लाखों छात्र लाभान्वित हो रहे हैं। परंतु नियमित पाठ्यक्रम और सीमित समयावधि के कारण इसकी गुणवत्ता में कमी आ गई है।

संदर्भ :

1. संगीत चिंतामणि, प्रथम खंड, आचार्य बृहस्पति, पृ. 4
2. भारतीय संगीत कोश, विमलकान्त रॉय चौधुरी, पृ. 32
3. भारतीय संगीत का इतिहास, भगवत शरण शर्मा, पृ. 52
4. भारतीय संगीत का इतिहास, भगवत शरण शर्मा, पृ. 62



भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली : परम्परागत एवं वर्तमान

रूमा चक्रवर्ती

भारतीय संगीत की शिक्षण प्रणाली के बारे में हम जब भी चर्चा करते हैं, तो हमारे मस्तिष्क में एक ही शिक्षण पद्धति सामने उभरकर आती है, और वह है गुरु-शिष्य परम्परा की पद्धति। संगीत के जगत में गुरु-शिष्य परम्परा काफी पुरानी है और यह पद्धति प्राचीन काल से चली आ रही है। मध्यकाल में यही गुरु-शिष्य परम्परा 'घराना' के नाम से प्रचलित हुआ। वर्तमान समय में गायन के कई घराने प्रचलित हैं, परन्तु 19वीं सदी के पश्चात् संगीत की स्थिति में कई क्रान्तिकारी बदलाव आए जिसके फलस्वरूप घरानों का प्रचलन पहले की तुलना में कम हो गया। तत्पश्चात् धीरे-धीरे संगीत का वातावरण बदलने लगा। संगीत शिक्षण प्रणाली अब सिर्फ गुरु-शिष्य परम्परा तक ही सीमित नहीं रही अपितु संगीत शिक्षा की सुविधा अब विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में भी प्राप्त होने लगी। आज संगीत शिक्षण प्रणाली में कई परिवर्तन हो चुके हैं। सामाजिक नेटवर्किंग की सुविधा के कारण आज लोग घर बैठे संगीत की शिक्षा आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार वर्तमान समय में संगीत शिक्षण प्रणाली में कई मूलभूत परिवर्तन आ चुके हैं, जो इस बात का संकेत देता है कि संगीत के क्षेत्र में विकास कितनी तेजी से हो रहा है।

हमारे भारतीय संगीत की परम्परा काफी प्राचीन है। संगीत के उत्पत्ति के संबंध में अगर बात करें तो इसकी उत्पत्ति के संबंध में कई मतभेद सामने आते हैं। लेकिन मोटे तौर पर लोगों का कहना है कि

संगीत की उत्पत्ति विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर हुई होगी। वस्तुतः संगीत का उद्भव मानव जीवन के पृथ्वी पर आगमन के साथ ही हो गया था। आदिमानव ने पशु-पक्षियों की बोलियों की नकल, दो वस्तुओं के टकराव से उत्पन्न ध्वनि इत्यादि आवाजों से प्रेरणा प्राप्त कर विभिन्न प्रकार की आवाज निकालने का प्रयास किया होगा और धीरे-धीरे इसी प्रकार के किए गए प्रयत्नों के परिणामों से ही संगीत के प्रारंभिक रूप का विकास हुआ होगा।

कहा जाता है कि वैदिक काल में ही हमें संगीत संबंधी विषय-वस्तु का विवरण प्राप्त होता है। अर्थात् संगीत के मूलभूत तत्वों के बारे में हमें जो जानकारी प्राप्त होती है, वह वैदिक काल से ही मिलती है। अब वैदिक काल के संगीत की बात करें तो उस युग में संगीत का वातावरण भक्तिमय हुआ करती थी। सुबह-शाम प्रत्येक परिवार में ईश्वर की आराधना होती थी। अतः इस युग में संगीत का विकास घरों में अधिक हुआ, बाहर नहीं। उस समय भी संगीत की दो धाराएँ हुआ करती थीं- मार्गी व देशी संगीत, जिसे आज शास्त्रीय व लोक संगीत के नाम से जाना जाता है।

अब बात संगीत की बात करें तो हम यह जानते हैं कि माँ सरस्वती के वरदान के बिना सभी के लिए यह संभव नहीं कि वे गान कर सकें। माँ सरस्वती की कृपा के फलस्वरूप ही एक व्यक्ति अच्छा गा सकता है, अर्थात् उसके कंठ में स्वर विद्यमान होते हैं। अब हर विद्या की तरह संगीत में भी शिक्षण पद्धति का होना अनिवार्य है। संगीत शिक्षण के द्वारा हमें यह जानने को मिलता है कि संगीत में कितने स्वर होते हैं, उनका प्रयोग कैसे किया जाता है एवं किस तरह स्वरों का रियाज किया जाए, जिससे कि हमारी गायकी में और ज्यादा निखार ला सकें। इसके लिए एक गुरु का होना अति आवश्यक है, जो हमें सही राह दिखा सकें। वैसे भी, हम स्वयं संगीत के शास्त्रीय पक्ष को सीख या जान नहीं सकते। अतः एक अच्छे शिक्षक या गुरु का होना बहुत जरूरी है, जो हमें संगीत के शास्त्रीय पक्ष की शिक्षा सही तरीके से दे सकें।

संगीत शिक्षण प्रणाली के बारे में थोड़ी चर्चा करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल के समय से ही संगीत की शिक्षा दी जा रही है। वैदिक काल में संगीत प्रायः ब्राह्मण वर्ग में था। ब्राह्मण ही संगीत की शिक्षा सर्वसाधारण को दिया करते थे। देखा जाए तो गुरु-शिष्य परम्परा की शुरुआत वैदिक काल में ही हो गया था। डॉ. मधुबाला सक्सेना जी ने अपनी किताब 'भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर' में लिखा है कि संगीत के प्रारंभिक सूत्रों के अनुसार सामगान से ही भारतीय संगीत का विकास माना जाता है। वैदिक साहित्य में साम प्रशिक्षण के निम्नांकित तीन रूप प्रचलित होने के संकेत प्राप्त होते हैं-

1. पिता-पुत्र के रूप में
2. गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में
3. गुरुकुल जाकर शिक्षा ग्रहण करने के रूप में।

वैदिक काल के शिक्षा ग्रंथों में ऐसे अनेक संकेत प्राप्त होते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि उस युग में वैदिक शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् सूत्र, इत्यादि विषयों का अध्यापन विद्यालयों में हुआ करता था। अतएव, इस विषय में इच्छा रखनेवाले व्यक्ति स्वयं ही इन आचार्यों के पास प्रशिक्षण लेने के लिए पहुँच जाते थे। संभवतः यहीं से गुरु-शिष्य परम्परा का प्रारंभ हुआ होगा।

कहा जाता है कि संगीत एक गुरुमुखी विद्या है। प्राचीन काल में गुरु और शिष्य के संबंधों का आधार था गुरु का ज्ञान, मौलिकता तथा नैतिक बल, उनका शिष्यों के प्रति स्नेह भाव, एवं ज्ञान बाँटने का निःस्वार्थ भाव। शिष्य में होती थी गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा, गुरु की क्षमता में पूर्ण विश्वास और गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण एवं आज्ञाकारिता। अंततः अपने गुरु का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त करने के पश्चात् ही शिष्य एक अच्छा कलाकार व गायक बन पाता है।

प्राचीन काल में तो यह गुरु-शिष्य परम्परा अच्छे से बरकरार रहा। परन्तु मध्यकाल में आते-आते यह परम्परा थोड़ी कम हो गई। चूँकि हम जानते हैं कि भारत में मुस्लिमों के प्रवेश के बाद संगीत की

परिस्थिति शुरू में काफी खराब हो गई थी। संगीत के कई मूल्यवान ग्रंथों को उन्होंने नष्ट कर दिया। कई हिन्दू संगीतकारों को जबरदस्ती इस्लाम धर्म ग्रहण करने पर मजबूर किया गया। इस प्रकार इन हालातों में संगीत के मूल रूप को कायम रखना संभव न हो पाया। धीरे-धीरे मुस्लिम कलाकारों ने अपना स्थान बना लिया। इस समय हमारे संगीत का एक नया रूप निखरकर सामने आया, जो हमारी मूल संगीत से भिन्न था। नए-नए गान शैलीयों का आविष्कार हुआ; जैसे - ख्याल, टप्पा, कव्वाली इत्यादि। अब संगीत सिर्फ रियासतों में ही पल-बढ़ रही थी। इस माहौल में जिस संगीत शिक्षण प्रणाली का जन्म हुआ, उसे हम 'घराना' के नाम से जानते हैं।

डॉ. सुमति मुटाटकर के अनुसार, “मध्यकाल की समाप्ति पर दरबारी संगीतज्ञ विभिन्न रियासतों में नियुक्त हो गए, जहाँ उन्होंने निश्चित होकर संगीत साधना की; परन्तु अशिक्षित होने के कारण ये संगीत के प्रति वैज्ञानिक व उदार दृष्टिकोण न अपना सके और दूसरे गायकों के प्रति ईर्ष्या भाव बनाकर इन्होंने स्वयं को ही श्रेष्ठ समझा। ये अपने शिष्यों को भी अपनी कला स्वयं तक सीमित रखने का आदेश दिया करते थे। इस प्रकार संगीतज्ञों के शिष्यों, प्रशिष्यों के रूप में विभिन्न घराने स्थापित हो गए।” देखा जाए तो गुरु-शिष्य परम्परा एवं घराना एक ही है, बस समय के साथ शिक्षण प्रणाली के नाम में बदलाव आ गए हैं।

साधारणतः घराने का अभिप्राय होता है कोई खास विशेषताओं वाला परिवेश जिसके गुणावगुण को लोग भलिभाँति अनुभूत करते हैं। संगीत के संदर्भ में 'घराना' शब्द का अभिप्राय, “संगीत की उस विशिष्ट सम्प्रदाय या शैली से है, जहाँ किसी विशिष्ट गुरु-शिष्य परम्परा में गुरु अपने शिष्य को संगीत के मूलभूत तत्व-स्वर, लय एवं ताल की मौलिक जानकारी देते हैं तथा शिष्य उसमें पारंगत होकर उस परम्परा को आगे बढ़ाता है।” संगीत में एक घराने के निर्माण के लिए कम-से-कम तीन पीढ़ियों का होना आवश्यक है। इस प्रकार से घराना संगीत शिक्षण प्रणाली का एक माध्यम बन गया, जो मध्यकाल से

लेकर आज भी कायम है।

मध्यकाल की समाप्ति के बाद जब हम आधुनिक काल की ओर बढ़ते हैं, तो हम देखते हैं कि भारत में जब ब्रिटिश शासन का आगमन हुआ, उस समय संगीत की परिस्थिति काफी खराब हो चुकी थी। सिर्फ कुछ गिने-चुने रियासतों में ही संगीत एक दीपक की लौ की भाँति जल रही थी। इस युग में यह बहुत जरूरी हो गया था कि संगीत की परिस्थिति को फिर से सुधारा जाए।

19वीं सदी के आसपास संगीत की परिस्थिति में फिर से सुधार आने लगे। उस समय संगीत के दो महान विभूतियों— पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे एवं पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी ने संगीत के उस टिमटिमाते दीपक की लौ को बुझने से बचा लिया। भातखण्डे जी व पलुस्कर जी के अथक प्रयास के कारण ही संगीत की स्थिति में काफी सुधार आए। इन दोनों महान विभूतियों के कारण ही संगीत को एक विषय के समान दर्जा मिला। इन दोनों ने संगीत शिक्षण प्रणाली को और भी बेहतर बनाने के लिए संगीत के कई विद्यालय खोले। पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने माधव संगीत महाविद्यालय, मैरिस कॉलेज ऑफ म्यूजिक (लखनऊ), बड़ौदा का म्यूजिक कॉलेज, इत्यादि जैसे संगीत महाविद्यालयों की स्थापना करवाई, तो पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने गांधर्व महाविद्यालय (लाहौर व मुम्बई), प्रयाग संगीत समिति, व कई संगीत के संस्थाओं की स्थापना की। इन दोनों ने संगीत के कई ग्रंथों व पुस्तकों की रचना की, जो संगीत के छात्रों व जिज्ञासुओं के लिए काफी लाभदायक है। इन सब कथनों का आशय यह है कि जो संगीत शिक्षण प्रणाली इतने दिनों से चली आ रही थी (अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा एवं घराना पद्धति), वह अब धीरे-धीरे कम होती जा रही है। जब से संगीत को एक विषय के रूप में मान्यता मिल गई है, तब से कई विद्यालयों व महाविद्यालयों ने संगीत की शिक्षा देना शुरू कर दिया है। इस प्रकार आज संगीत शिक्षण प्रणाली पहले की अपेक्षा काफी विस्तृत हो गई है। अतः हम यह कह सकते हैं कि संगीत को एक विषय का रूप प्रदान कर पलुस्कर व भातखण्डे

जी ने संगीत शिक्षण प्रणाली को और भी सुलभ कर दिया है।

विभिन्न महाविद्यालयों में जो संगीत की शिक्षण प्रणाली अवस्थित है, उसके अंतर्गत स्नातक, स्नातकोत्तर, एम.फिल. व पी-एच.डी. की डिग्रियाँ सम्मिलित है। महाविद्यालय के शिक्षण प्रणाली एवं संस्थागत शिक्षण प्रणाली में अंतर सिर्फ यही है कि संगीत संस्थाओं में केवल क्रियात्मक पक्ष पर जोर दिया जाता है और महाविद्यालयों में क्रियात्मक तथा शास्त्रात्मक- दोनों पक्षों पर समान रूप से ध्यान दिया जाता है। वर्तमान समय में विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्वतंत्र संगीत संकाय निम्नांकित विश्वविद्यालयों में है-

1. संगीत एवं मंच कला संकाय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2. इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़
3. विश्वभारती, शान्तिनिकेतन
4. रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता
5. संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय
6. कॉलेज ऑफ़ म्यूजिक, डांस एवं ड्रामेटिक्स - बड़ौदा (महाराजा सयाजी राव विश्वविद्यालय)
7. सेन्टर फोर परफार्मिंग आर्ट्स, पूना विश्वविद्यालय
8. भातखण्डे संस्कृति विश्वविद्यालय, लखनऊ
9. राजा मानसिंह तोमर संगीत और कला विश्वविद्यालय - ग्वालियर, इत्यादि।

इन स्वतंत्र संकायों के अतिरिक्त लगभग 40 विश्वविद्यालयों में संगीत के विभाग है, जिनमें से कुछ में स्नातक स्तर की पढ़ाई होती है, कुछ में स्नातकोत्तर तो कुछ गिने-चुने विश्वविद्यालय में एम. फिल. व पी.एच.डी. की पढ़ाई होती है।

विश्वविद्यालय में दी जानेवाली संगीत की उच्च शिक्षा के कुछ उद्देश्य होते हैं, जो इस प्रकार हैं- छात्र-छात्राओं में सृजनात्मक क्षमता का विकास करना, छात्र-छात्राओं को संगीत के क्रियात्मक व शास्त्रीय पक्ष की सांगोपांग जानकारी करवाना, संगीत में शोध-कार्य का मार्ग

प्रशस्त कराना तथा योग्य एवं जानकार संगीत शिक्षक, समीक्षक तैयार कराना। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या विश्वविद्यालय अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम है? यह कहना पूर्ण रूप से सत्य नहीं है कि विश्वविद्यालय अपने उद्देश्यों को पूर्ण करते हुए संगीत शिक्षण की सभी समस्याओं का निवारण कर चुकी है। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मौजूदा परिस्थितियों में समय के साथ ताल-मेल बैठाने के लिए विश्वविद्यालय शिक्षण प्रणाली को और बेहतर एवं कारगर बनाने में निरंतर कार्यरत है।

संगीत शिक्षण प्रणाली में आज भले ही बदलाव आए हो, लेकिन इससे विद्यार्थियों को कई फायदे भी हुए हैं। उदाहरणस्वरूप यदि किसी छात्र/छात्रा ने विश्वविद्यालय से अपनी संगीत की शिक्षा प्राप्त की हो तो उसे अपनी शिक्षा के साथ-साथ निर्धारित अवधि के समाप्त होने पर डिग्री स्वरूप प्रमाण-पत्र की प्राप्ति होती है जो भविष्य में उसके रोजगार के अवसर को भी बढ़ा देती है। पहले की शिक्षण प्रणाली में निश्चितता की कमी थी, वहीं आज की शिक्षण प्रणाली छात्र-छात्राओं में आत्मविश्वास का विमोचन भी करती है।

आज की सदी में जहाँ तकनीकी विकास ने रफ्तार पकड़ी है, वहीं संगीत शिक्षण प्रणाली भी इससे अछूता नहीं रहा है। विज्ञान एवं कला के अद्भुत मेल ने कई समस्याओं का समाधान निकाला है, जिसके फलस्वरूप आज शिक्षण प्रणाली सिर्फ एक कक्षा तक सीमित न रहकर, एक ही समय में वृहद पैमाने पर छात्र-छात्राओं तक पहुँचने का अद्भुत माध्यम बना है। सरकार भी कई प्रकार से तकनीकी मदद से शिक्षण प्रणाली को और भी बेहतर और सुगम बनाने में प्रयासरत है।

आज इंटरनेट की सुविधा हर जगह कर दी गई है। लोग यूट्यूब (youtube) से अपने पसंदीदा कलाकार को सुनकर उनसे भी संगीत सीखने का प्रयास कर सकते हैं। इन सबके अलावे सरकार ने कई शैक्षिक चैनल जारी किए हैं, जो विद्यार्थियों के लिए काफी फायदेमंद है।

सरकार के द्वारा प्रसारित कुछ चैनल्स जो संगीत शिक्षण में

सहायक है -

Swayam Prabha : Free DTH Channel for Education

1. चैनल 02 : 'संस्कृति'

- इसमें मानविकी, कला (संगीत), इतिहास, दर्शन और संबंधित विषय शामिल हैं।
- प्रबंधन एवं संचालन का कार्य सी.ई.सी. (CEC- Consortium for Educational Communication), नई दिल्ली द्वारा निर्वाहित किया जाता है।
- राष्ट्रीय समन्वयक : प्रो. जगत भूषण नड्डा
- चैनल समन्वयक : श्री रजनीष श्रीवास्तव

इनमें प्रसारित होने वाले संगीत के कार्यक्रम -

- ◆ राग एक भाव अनेक
- ◆ राग रंजन
- ◆ टुमरी के रंग
- ◆ तबला: संगीत का अटल साथी।

2. चैनल 16 : 'एन.पी.टी.ई.एल. (NPTEL)'

- इसमें मानविकी (संगीत), सामाजिक विज्ञान एवं प्रबंधन से संबंधित विषय शामिल हैं।
- प्रबंधन का कार्य एन.पी.टी.ई.एल. (NPTEL) द्वारा निर्वाहित किया जाता है।
- यह एम.एच.आर.डी. (MHRD) द्वारा वित्त-पोषित है।
- आई.आई.टी. (IIT) कानपुर द्वारा समन्वित।
- राष्ट्रीय समन्वयक - प्रो. अमित गुप्ता
- चैनल समन्वयक - प्रो. मुनमुन झा एवं प्रो. सात्यकी राय

इनमें प्रसारित होने वाले संगीत के कार्यक्रम - "Appreciating Hindustani Music" - डॉ लक्ष्मी श्रीराम के द्वारा संगीत के विभिन्न विषयों पर व्याख्यान प्रस्तुति।

3. चैनल : 'पी.एम. ई-विद्या (PM eVIDYA)'

(चैनल न. 23 से 34)

- इसमें कक्षा 1 से 12 तक के संबंधित सभी विषय शामिल हैं।
- प्रबंधन एवं संचालन का कार्य एन.सी.ई.आर.टी. (NCERT), नई दिल्ली द्वारा निर्वाहित किया जाता है।
- राष्ट्रीय समन्वयक - प्रो. अमरेन्द्र प्रसाद बेहरा

इनमें प्रसारित होने वाले संगीत के कुछ कार्यक्रम -

- √ राग अनुराग (ऑडियो बुक)
- √ राग रस बरसे (ऑडियो बुक: कक्षा 8)
- √ आओ मिलकर सिखें आओ मिलकर गाएँ (कक्षा-11) इत्यादि।

VYAS : 24Hrs Higher Education Channel

इसमें विज्ञान, वाणिज्य तथा कला संकाय से संबंधित सभी विषयों के 'व्याख्यान प्रदर्शन' शामिल हैं। इसका प्रबंधन एवं संचालन का कार्य सी.ई.सी. (CEC- Consortium for Educational Communication), नई दिल्ली द्वारा निर्वाहित किया जाता है।

- राष्ट्रीय समन्वयक - प्रो. जगत भूषण नड्डा
- चैनल समन्वयक - डॉ सुनिल मेहरू

डॉ सरिता पाठक यजुर्वेदी (सह-प्राध्यापक, संगीत विभाग, भारती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय) द्वारा संगीत के विभिन्न विषयों पर नियमित रूप से व्याख्यान प्रस्तुति -

- रागांग
- ऋतुप्रधान राग
- संस्कृत साहित्य एवं शास्त्रीय संगीत
- मियां तानसेन का संगीत में योगदान
- पंडित भातखण्डे जी और भारतीय संगीत
- लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत
- लोक संगीत व शास्त्रीय संगीत का तुलनात्मक अध्ययन
- मार्गी संगीत और देशी संगीत

- विभिन्न रागों का क्रियात्मक वर्णन, इत्यादि।

वर्तमान समय में संगीत शिक्षण प्रणाली में इतनी सुविधाएँ होते हुए भी हमें बहुत सी खामियाँ भी देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए, कुछ ऐसी चुनिन्दा विशिष्ट सांगीतिक संस्थाएँ हैं, जिसका पाठ्यक्रम काफी सटीक, विस्तृत और उत्तम है। परन्तु पाठ्यक्रम के विस्तृत ज्ञान एवं उसके अन्तर्गत मिलने वाली डिप्लोमा प्रमाणपत्र के बीच एक गहरी खाई है। यहाँ छात्र-छात्राओं को संगीत के सैद्धान्तिक विषयों पर न ही विस्तृत जानकारी दी जाती है और न ही आज के छात्र-छात्राओं को इसे जानने की रुचि होती है। इन संस्थाओं में सिर्फ संगीत के प्रायोगिक पक्ष की ओर ही ध्यान दिया जाता है (शायद वह भी विस्तृत रूप से नहीं) जिसके फलस्वरूप वर्तमान समय के विद्यार्थियों को संगीत का गुढ़ ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। इसका दोष हम सिर्फ संस्थाओं को नहीं दे सकते, अपितु आज के विद्यार्थियों में भी जानने की रुचि कम हो गयी है। अथवा हम यँ कह सकते हैं कि संस्थाएँ और विद्यार्थी इस विषय के प्रति सचेत नहीं हैं। कम समय में सिखने, जानने और आगे बढ़ने की लालसा संगीत विद्यार्थियों के लिए उचित नहीं है। यह विषय साधना का है, अन्य विषयों की तरह सिर्फ डिग्री के पैमाने पर तौलना हास्यास्पद है। तकनीकी विकास से जहाँ एक ओर हमें फायदा होता है, तो दूसरी ओर नुकसान भी देखने को मिलता है। आज हमारे पास विभिन्न प्रकार के उपकरण (एप्स) उपलब्ध है, जिसकी सहायता से तानपुरा, तबला, स्वरमंडल जैसे भिन्न-भिन्न वाद्यों का उपयोग बड़े ही सुगमता से किसी भी स्थान पर किया जा सकता है। ठीक उसके विपरीत तकनीकी विकास ने मूल वाद्य यंत्रों के प्रयोग के पकड़ को ढीली कर दी है। यह एक चिन्तन का विषय है। मूल विषय यह है कि विद्यार्थियों को सिखने और जानने के क्रम में समर्पण की भावना एवं निष्ठा के साथ आगे बढ़ने एवं संगीत को आगे बढ़ाने के दायित्व का भी पालन करना होगा, तभी शिक्षण प्रणाली सार्थक हो पायेगी।

अस्तु, वर्तमान में संगीत शिक्षण प्रणाली विविधिता का अग्रही है।

तकनीकी विकास एवं विविधता के अग्रह ने शिक्षण प्रणाली के जड़तंत्र में नवीन संचार का काम किया है तथा उन मूलभूत समस्याओं का भी हल किया है जिनसे कई छात्र-छात्राएँ जूझ रहे हैं। कला एवं विज्ञान के समन्वय से संगीत की शिक्षण प्रणाली में कई परिवर्तन आए एवं भविष्य में भी इसके अवसरों में कोई कमी न हो, इसके लिए संगीत संस्थान, विश्वविद्यालय, सरकार, कलाकार एवं संगीत जगत के शोधार्थी अथक प्रयास में लगे हैं।

संदर्भ :

1. डॉ. मधुबाला सक्सेना, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर।
2. www.swayamprabha.gov.in
3. <http://cec.nic.in>



शास्त्रीय-उपशास्त्रीय गायन शैलियों में भाव-संप्रेषण

विभा भारती

संगीत वह कला है जिसके द्वारा संगीतज्ञ अपने हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को स्वर व लय के द्वारा प्रकट करता है। संगीत का संबंध केवल हृदय से ही नहीं वरन् संपूर्ण शरीर से है, चाहे वह किसी भी शैली का हो; जैसे शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत, फिल्म संगीत, गजल, भजन उपशास्त्रीय आदि।

मनुष्य एक समाजिक प्राणी है, मानव के स्वस्थ विकास हेतु स्वस्थ समाज का होना अत्यंत आवश्यक है, जिसमें संगीत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। व्यक्ति का व्यक्ति से संबंध होना समाज के लिए अति आवश्यक है। यह संबंध संगीत के माध्यम से विकसित किया जा सकता है। संगीत के द्वारा समाज में एकता, बंधुत्व व प्रेम की भावना जागृत होती है। समूह गीत तथा वृंदवादन आदि से अनुशासन, समता तथा नेतृत्व क्षमता का विकास होता है। संगीत से मनुष्य में भावात्मक एकता विकसित होती है। भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा संप्रेषण हेतु संगीत का प्रयोग समाज के समस्त वर्गों में किया जाता है। इसके अलावे संगीत मनुष्य का नैतिक व चरित्रिक उत्थान करता है जो शांति एवं सौहार्द्रपूर्ण समाज के निर्माण हेतु आवश्यक है।

यह तो सर्वमान्य है कि भारतीय संगीत आरंभ से ही दो धाराओं में प्रवाहित होता रहा है। प्रथम वह कि जिसका प्रयोग धार्मिक समारोहों में ईश्वर की आराधना व प्रार्थना के लिए किया जाता था, मार्गी संगीत कहलाया; दूसरा, वह जो लौकिक समारोहों में प्रयुक्त होता था, जिसका

उद्देश्य केवल लोगों का मनोरंजन करना था, देशी संगीत कहलाया। दोनों में समानता सिर्फ इतनी है कि इन दोनों का उद्गम जन समुदाय में प्रचलित लोक संगीत से हुआ है। आगे जाकर यही संगीत कई शैलियों में परिवर्तित हो गया। संगीत की शैलियों पर अगर हम गौर करें तो पायेंगे की संगीत में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक विविध परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन काल में जो प्रबंध गायन प्रचलित था अब वह ध्रुपद गायन के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार ध्रुपद गायन शैली से ख्याल गायन शैली का उद्भव हुआ। जिस प्रकार जाति गायन से राग का उद्भव हुआ। इस प्रकार बदलते परिवेश के कारण रागों के स्वरूपों में भी बदलाव होता रहा है। अगर इसे लिपिबद्ध नहीं किया गया होता तो हम नहीं जान पाते की हम क्या गा बजा रहे हैं, रागों के स्वरूपों का क्षेत्र बढ़ा होने के कारण ही इसे शास्त्रबद्ध किया गया और हम एक दूसरे रागों को अलग-अलग पहचान जा रहे हैं। इसी संदर्भ में शास्त्रीय संगीत और उपशास्त्रीय संगीत आता है जिसका उचित व्याख्या यहाँ आवश्यक है।

शास्त्रीय संगीत :

संगीत एक प्रायोगिक कला है। सबसे पहले प्रयोग किया गया, फिर सिद्धांत के रूप में उसी को शास्त्रबद्ध किया गया। इस प्रकार संगीत आज भी क्रियात्मकता रूप पर ही टिका हुआ है। लेकिन क्रियात्मक रूप की सही अभिव्यक्ति के लिए कुछ नियम का पालन करना आवश्यक है और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शास्त्र आवश्यक है। संगीत के संदर्भ में “शास्त्र की परिधि मानव मन की सौंदर्यबोधी सृजनात्मकता तथा संप्रेषणात्मक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप एक भाव और चिन्तनमय विश्व निरूपण और सिद्धांतीकरण ही शास्त्र है। शास्त्र की परिभाषा इस प्रकार है-

“शस्ति च त्रायते च। शिष्येत अनेन।”

अर्थात् जो शिक्षा हमें अनुशासन प्रदान करे हमारी रक्षा करे शास्त्र कहलाती है। अतः वह संगीत जो शास्त्र के नियमों में बँधा हो और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं हो, शास्त्रीय संगीत

कहलाता है। शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति के बारे में दो मान्यताएँ प्रचलित हैं। एक तो यह कि शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति लोक गीत से हुई है, लोक-संगीत धुन प्रधान है। उन्हीं धुनों से रागों का निर्माण किया गया या यो कहें कि धुनों में समाहित रागों को खोज निकाला गया। राग को अलाप द्वारा विस्तार देकर तथा नियमों में बाँधकर अलग-अलग शैलियाँ विकसित की गईं और उसे शास्त्रीय संगीत कहा गया। राग भारतीय शास्त्रीय संगीत का महत्वपूर्ण तथा प्रधान विषय है, जिसका संबंध, सौंदर्य से जुड़ा हुआ है, वास्तविक रूप में भारतीय शास्त्रीय संगीत में शब्द की प्रधानता होती है। राग पर आधारित शास्त्रीय संगीत की एक विशेषता तान है जो कला प्रदर्शन में अत्यंत आवश्यक है।

उपशास्त्रीय संगीत :

वह संगीत जिसमें लोक और शास्त्र दोनों का समावेश हो उपशास्त्रीय संगीत कहलाता है, जैसे ठुमरी, दादरा, टप्पा, कजरी, चैती। उपशास्त्रीय संगीत का अस्तित्व शास्त्रीय संगीत के स्रोत से निःसृत हुआ है। नाम से स्पष्ट है कि शास्त्रीय अर्थात् शास्त्रोक्त और उपशास्त्रीय अर्थात् शास्त्र के समीप रहने वाला। उपशास्त्रीय संगीत जो शास्त्र के निकट रहे तथा शास्त्रपालन कटिबद्धता से न होकर शिथिलता से होता हो। वर्तमान समय में अशास्त्रीय संगीत का प्रचलन खूब लोकप्रिय है, शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुति के बाद उप शास्त्रीय विधाओं का प्रयोग परिपाटी की भाँति प्रचलित हो गया है। ऐसा इसलिए क्योंकि यह भाव-प्रधान, चपल ताल संगीत की सुगमता आदि प्रयोग होता है, उपशास्त्रीय संगीत विधाओं की समृद्धि इतनी विपुल है जहाँ एक ओर शास्त्रीय रागों, राग प्रयोगों और रागेतर प्रयोग, छोटी-छोटी तानों एवं बहलावों का प्रयोग होता है, उपशास्त्रीय संगीत में शास्त्रीय पक्ष से अधिक भाव सौन्दर्य एवं रस माधुर्य को प्रधानता दी जाती है। इसमें पद के साहित्यिक सौन्दर्य को आधार मानकर उसके भाव-पक्ष पर बल दिया जाता है। इन भावों को स्पष्ट करने का माध्यम स्वर ही है, उपशास्त्रीय संगीत में श्रृंगारिक भावना अधिक होती है, इसलिए इसका गान गंभीर राग या ताल में नहीं किया जाता है, कई विद्वान इसे चंचल प्रकृति का

संगीत मानते हैं, और वह इसलिए कि इसमें गंभीरता का प्रभाव नहीं होता, किन्तु इसका गान सरल नहीं है, क्योंकि इन शैलियों में स्वर लगाव पर अधिक बल दिया जाता है, सभी उपशास्त्रीय शैलियों लोक धुनों पर आधारित है और ये लोक धुन ही लोक संगीत का आधार है। अतः यह स्पष्ट है कि उपशास्त्रीय संगीत में लोकरंग के तत्व संपूर्ण रूप से समाहित हैं, भारत में इसका उदय 11वीं से 12वीं शताब्दी में सुफियों के आने पर हुआ।

इस प्रकार शास्त्रीय संगीत स्वर प्रधान है तो उपशास्त्रीय संगीत शब्द प्रधान है, भाव संगीत (उपशास्त्रीय संगीत) का अर्थ यह नहीं कि वह भावमय है और शास्त्रीय संगीत भाव रहित है, बल्कि दोनों ही भाव रूपी नींव पर अपना भवन निर्माण करते हैं। प्रत्येक कला का प्राण भाव ही है। भावों का प्रदर्शन ही कला है। अतः दोनों में भावों की अभिव्यक्ति है बस अन्तर है माध्यम का दोनों ही में स्वर, लय, ताल तथा शब्द के माध्यम से भावों को प्रकट किया जाता है भाव संप्रेषण के द्वारा वर्तमान समय में संगीत को सरलता से प्रकट किया जा रहा है जिसकी चर्चा यहाँ जरूरी है।

भाव :

भाव दर्शक को अर्थ देता है, क्योंकि यह कविता का विषय शारीरिक क्रिया और मन की भावनाओं को दर्शक तक पहुँचाता है। भाव कई प्रकार के होते हैं : विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और संचारी भाव।

● विभाव : विभाव दो प्रकार के है आलंबन और उद्घीपन।

आलंबन : यह भाव आदमी या कर्म की वजह से जन्म लेता है, जैसे प्रिय मित्र को देखने के बाद जो आनंद मिलता है। आलंबन भाव है।

उद्घीपन : जब किसी का गुण को देखकर भाव उत्तेजित होते है उसे उद्घीपन भाव कहते है।

● अनुभाव : यह एक व्यक्ति द्वारा महसूस अभिव्यक्ति भावनात्मक भावनाएँ हैं।

• स्थायीभाव : यह भाव संगीत कला का महत्वपूर्ण भाव है जिससे रस का जन्म होता है। यह 8 होते हैं। जिसकी चर्चा भरतकृत नाट्यशास्त्र में भी की गई है। यह भाव-रति, उत्साह, शोक, ह्रास, विसमय, भय, जुगुप्सा, क्रोध है।

• संचारी भाव : रस की और वस्तु या विचार का नेतृत्व जो करते हैं उसे संचारी भाव कहते हैं। ये निम्न भाव संगीत को संप्रेषित करने वाला कारक है। मानवीय रस एवं भावों को व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम संगीत है। रसात्मकता एवं भावानुभूति ही संगीत का प्राण है। यदि ये दोनों ही न हों तो संगीत शून्य है। गायक अपनी कल्पना शक्ति द्वारा हृदय में उठते भावों को स्वरों और शब्दों के माध्यम से व्यक्त करता है, जिसमें वह रस का भी समावेश करता है; जैसे भजन, गीत, तुमरी, कजरी, होरी, गजल, कव्वाली, देश भक्ति गीत, लोकगीत फिल्मी गीत यह सभी भाव प्रधान एवं रस प्रधान गीत हैं। अतः मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों को व्यक्त करने के लिए कलकर्म से विभिन्न संगीत शैलियों का जन्म हुआ। अतः कला का उद्गम स्थल मन है। संगीत कला एक मानव व्यवहार को स्वर तथा ताल के माध्यम से आन्तरिक भावों को अभिव्यक्त करना है और मन एवं मानव व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन है। यह तो स्पष्ट है कि जब भाव की उत्पत्ति होती है तब रस का संचार होता है, जब आप गले से ध्वनि उत्पन्न करते हैं तो वह मनुष्य के मन मस्तिष्क को प्रभावित करता है। रस का संचार जो आप गाने के माध्यम से करना चाह रहे हैं तो यदि उस संचार को व्यक्ति ने ग्रहण किया तभी अपने संगीत का महत्व एवं प्राथमिकता है, यदि आपके संगीत में भाव होंगे तभी वह एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचेगा अतः भाव और संगीत जब दोनों मिलते हैं तभी संगीत का वास्तविक अर्थ स्पष्ट होता है। संगीत चाहे शास्त्रीय हो या उपशास्त्रीय भाव संप्रेषण ही उसकी वास्तविक पहचान है।

संदर्भ :

1. डा. ईश्वरी प्रसाद, मुसलमान और भारतीय संगीत, प्रसाद, पृ. 119.

2. डॉ. सुधा सहगल, उप शास्त्रीय संगीत, पृ. 144.
3. सत्यवती शर्मा, संगीत का समाजशास्त्र, पृ. 62-63
4. मुसलमान और भारतीय संगत (आचार्य वृहस्पति, पृष्ठ सं0-21)
5. डॉ. शांति जैन, कजरी, पृ. 119
6. डॉ. भरच्चंद श्रीधर परांजपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 439.
7. प्रो. हरिश्चंद्र श्रीवास्तव, प्रभाकर प्रश्नोत्तर, पृ. 203)
8. डॉ. कविता चक्रवर्ती, संगीत की मनोवैज्ञानिक, पृ. 12, 37, 39



लोक संगीत और उसमें निहित भाव पक्ष

रूपाली दास

संसार में नाम एवं रूपमय जो कुछ भी दृश्य है, वह 'लोक' है। सहजता, निश्छलता एवं आडंबर विहीनता इसके गुण और स्वभाव हैं। यही गुण और स्वभाव आनन्द और सौन्दर्य आदि के श्रोत हैं। ऐसा कोई भी गीत जिसकी उत्पत्ति लोक में हो और जो परम्परागत रूप से बाद के लोगों को मिला हो, लोकगीत कहलाता है।¹

विभिन्न प्रांतों में प्रादेशिक संस्कृति की आवश्यकतानुसार विभिन्न अवसरों पर जो गीत गाये जाते हैं, उसे 'लोक संगीत' कहा गया है।² लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित और लोक के लिए लिखे गए गीतों को 'लोक गीत' कहा गया है। लोक गीतों को उनमें व्याप्त सहजता, रसात्मकता, मधुरता आदि गुणों के लिए जाना जाता है। ग्राम गीत रस, लय एवं माधुर्य से परिपूर्ण है। जो गीत मानस हृदय के आसन पर विराजकर प्रकृति का गुणगान करती है, वे ही ग्रामगीत हैं। लोक संगीत मानव के हृदय के भावों को व्यक्त करने का सबसे सरल और सहज माध्यम है। सुख-दुख, राग-द्वेष, भय, निर्वेद आदि हर मानसिक भावों के शब्दों को लयबद्ध कर लोक गीत मानव मन में अपना स्थान बना लेता है। यह संगीत मानव मन में भाव उत्पन्न कर उसे वशीभूत कर लेता है। लोक संगीत समस्त विश्व में समान भाव से व्याप्त है। मानव जीवन का सर्वांगीण चित्रण लोक संगीत में ही मिलता है। लोक गीत वास्तव में विभिन्न भू-खण्डों पर फैले हुए अपने धर्म, विश्वास और परम्पराओं पर आश्रित मानव मन के भाव की छवि है। इन गीतों में कृत्रिमता नाम मात्र भी नहीं होती। ये गीत पूर्णतः भावना पर आश्रित

है। लोक गीत कभी लेखनी में बद्ध नहीं हुए, वरन् युगों से जन-जन के कंठ में प्रवाहित होते चले आ रहे हैं। मनुष्य के मन की सभी भावनाएँ, दिनचर्या तथा उसके क्रियाकलापों में रचा बसा लोक गीत है। मध्यकाल में इसे देशी संगीत कहा गया जो आधुनिक काल में लोक संगीत कहलाया।³

कलाओं का उद्देश्य भावनाओं का उत्कर्ष द्वारा रस की अनुभूति कराना है। स्वर, ताल और लय, मन मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं, इसलिए संगीत को कलाओं में श्रेष्ठ माना गया है। लोक संगीत में धुन छोटी होती है परन्तु शब्दों का अर्थ बड़ा होता है! इसलिए लोक संगीत मनुष्य को अधिक आकर्षित करता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक के गीत लोक संगीत में होते हैं। लोक संगीत का छंद संक्षिप्त होता है, परन्तु भाव के अनुकूल होने से वह मन और मस्तिष्क पर पूरा प्रभाव छोड़ता है।⁴

लोक संगीत का उद्भव कब और कैसे हुआ, यह बताना अत्यंत कठिन है। क्योंकि इस संगीत का इतिहास उतना ही पुराना है जितना की मानव की सृष्टि का। प्रकृति को लोक संगीत की जननी कहा गया है। मानव ने रोना और गाना दोनों स्वयं सीखा और इन दोनों से जो भाव उत्पन्न होते हैं उनमें संगीत विद्यमान होता ही है। आज लोक संगीत का जो विकसित रूप हमारे प्रत्यक्ष है, उनमें मानव की समस्त अनुभूतियाँ हैं। लोक गीतों का विकास भावनाओं के प्रवाह में स्वतः होता है। शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोक व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनंद के लिए जो छन्द में बद्ध वाणी सहज उत्पन्न करता है, वही 'लोक गीत' है। Encyclopedia Britannica में लिखा है -

'This folk Music is like a forest tree with its roots deeply buried in the part but which continually puts forth new branches, new leaves, new fruits.'

हमें इन लोक गीतों में जीवन की वास्तविकता भी मिलती है। इनमें जीवन का शाश्वत रूप प्रकट होता है।⁵

लोक गीतों का सामान्य वर्गीकरण इसप्रकार है -

1. संस्कार गीत : बच्चे का जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, गौना, मृत्यु संबंधी गीत।
2. ऋतु या माह गीत : चौती, कजरी, बारह मासा, होली आदि।
3. धार्मिक गीत : तीज, व्रत के गीत, गोधन, भक्ति परक आदि।
4. जाति गीत : अहीर, चमार, कहार, धोबियों के गीत।
5. क्रिया गीत : रोपनी, सोहनी, जंतसार के गीत।
6. सामयिक गीत : युग की घटनाओं से प्रभावित, देश प्रेम के गीत आदि।
7. अन्य गीत : बच्चों या बड़ों के खेल से संबंधित गीत।⁶

लोक संगीत वह संगीत है जो मौखिक परम्परा में निहित है। यह संगीत सामान्य जन की भाषा में ही गाया जाता है और लोग इसे अपनी रुचि के अनुसार गाते-बजाते हैं। लोक संगीत के दो पक्ष हैं -

- लोक गीतों की गायन पद्धति
- लोक वाद्यों का सहकार

लोक गीतों की गायन पद्धति में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं -

1. गायक गुरु लघु का अधिक ध्यान न रखते हुए लोक गीत की लय पर अधिक ध्यान रखते हैं।
2. अनेक लोक गीतों को गाते समय अंतिम वर्ण से पहला वाला वर्ण इतना लंबा करके गाया जाता है कि ए, ई, ओ आदि स्वर सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।
3. अनेकों बार लय पूर्ति के लिए कुछ वर्णों, पदों का आगम कर लिया जाता है।⁷

लोक संगीत में लोक वाद्यों का ही प्रयोग किया जाता है। लोक संगीत भाव प्रधान होने के कारण यह संगीत कभी पुराना नहीं होता, सदाबहार रहता है। गायक और श्रोता के मध्य सीधा जुड़ाव होने के कारण भाव संप्रेषण की प्रक्रिया में लोक संगीत सबसे अधिक प्रभाव डालता है। लोक संगीत से प्रभावित होकर कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ने कई रवीन्द्र संगीत के गीतों की रचना की। माँ की ममता, शोक, करुणा, ईर्ष्या, उल्लास, कामना, क्रोध, अहम्, मोह, लोभ इत्यादि सभी का दिग्दर्शन लोक संगीत में सहजता से होता है। अपने इसी भाव पक्ष की प्रधानता के कारण लोक संगीत पूरे संसार में लोकप्रिय है।

लोक संगीत के भाव पक्ष का विश्लेषण, उसमें निहित तथ्यों द्वारा निम्नांकित रूप से किया जा सकता है—

1. अनुशासन : लोक संगीतकार अपने अहम् की भावना को त्यागकर अपनी परंपरागत कला को जीवित रखकर मुक्त हृदय से अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं।
2. प्रेरक शक्ति : धर्म, समुदाय, जाति, पर्व और राष्ट्रीयता की चेतना को कायम रखते हुए लोक संगीतकार भावों का उत्साहपूर्वक प्रकट करते हैं। यही प्रेरक शक्ति सामाजिक उत्थान में सहायता प्रदान करती है।
3. सृजनात्मक शक्ति : लोक संगीत के कलाकार सहज मन से प्रेरित होकर शीघ्रता से संवेदनशील हो उठता है और नव स्फूर्ति एवं नव रस का संचार करने में समर्थ हो जाता है।
4. स्वर ताल और लय तत्व : नीचे के स्वर से उच्च स्वरों की ओर जाते हुए या उच्च स्वरों से नीचे के स्वरों की ओर आते हुए लोक संगीतकार छोटी सी छोटी धुन में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें भाव प्रदर्शन करने के लिए नवीन स्वर, नवीन ताल या नवीन लय की रचना का भान ही नहीं रहता।
5. दिव्यत्व : लोक संगीतकारों के हृदय में आत्म समर्पण की भावना कला प्रदर्शन के पहले से ही विद्यमान रहता है। अतः सभी कलाकारों का मानसिक धरातल लोक धुनों पर एकत्व की अनुभूति कराता है और यही एकत्व, दिव्यत्व की कसौटी सिद्ध होता है।⁸

अन्ततः हम पाते हैं कि लोक संगीत प्रकृति के उद्गार है। साहित्य की छंदबद्धता एवं अलंकारों से मुक्त रहकर ये मानवीय संवेदनाओं के लोक में पहुँचा देते हैं। इसलिए सामाजिकता को जिंदा रखने के लिए

लोक साहित्य एवं लोक संगीत को सहेजकर रखना बहुत जरूरी है!

संदर्भ :

1. शर्मा, प्रो. स्वतंत्र, सौंदर्य, रस एवं संगीत, पृ. 265
2. वसंत, संगीत विशारद, पृ. 566
3. शर्मा, प्रो. स्वतंत्र, सौंदर्य रस एवं संगीत, पृ. 266
4. वसंत, संगीत विशारद, पृ. 566
5. शर्मा, प्रो. स्वतंत्र, सौंदर्य रस एवं संगीत, पृ. 267- 268
6. शर्मा, प्रो. स्वतंत्र, सौंदर्य रस एवं संगीत, पृ. 269
7. शर्मा, प्रो. स्वतंत्र, सौंदर्य रस एवं संगीत, पृ. 273
8. वसंत, संगीत विशारद, पृ. 567



सुरजापुरी लोकगीत सीमांचल की एक मीठी सी धरोहर

मौसमी सिन्हा

संगीत का जन्म पृथ्वी के सूत्रपात के साथ ही हुआ है। विद्वानों का कहना है कि संगीत उतना ही प्राचीन है जितनी कि पृथ्वी। पृथ्वी में जब न शब्द था ना भाषा थी तब भी संगीत विद्यमान था। लोग अपने भावों की अभिव्यक्ति हा-हा-ही-ही-हु-हु आदि के द्वारा करते थे। भारतीय संगीत दैवीय प्रदत्त है। ब्रह्माजी जगत निर्माता, भगवान शंकर राग-रागिनी के स्रष्टा, माँ सरस्वती वीणावादिनी, ऋषि नारद नारदीय वीणावादक, शिव-शम्भू के हाथ में डमरु, भगवान विष्णु के हाथ में शंख और बाँसुरी-वादक देव श्री कृष्णजी इस तथ्य के अकाट्य प्रमाण हैं कि सबसे सृष्टि का सूत्रपात हुआ था तभी से भारतवासियों को संगीत के बारे में ज्ञान प्राप्त था। हमारे प्राचीन ग्रंथों यथा: पुराण; रामायण, महाभारत में संगीत का प्रमाण मिलता है।

प्राचीन काल में संगीत को दो भागों में विभक्त किया गया था-

1. मार्गी संगीत मार्गी संगीत को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया। इस संगीत को गंधर्व संगीत के नाम से भी जाना जाता था। इस प्रकार के संगीत में कठिन अनुशासन का प्रयोग किया जाता था।

2. देशी संगीत देशी संगीत जो जनसाधारण के मनोरंजन के लिए गाया जाता था। इस संगीत को गान भी कहा जाता था। इसमें कठिन अनुशासन का पालन नहीं करना पड़ता था।

मार्गी संगीत कालांतर में शास्त्रीय संगीत का रूप धारण किया है और देशी संगीत लोकगीत का। शास्त्रीय संगीत को पुनः दो भागों में बाँटा गया यथा; (क) उत्तर भारतीय या हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति और

(ख) दक्षिण भारतीय या कर्णाटी संगीत पद्धति।

शास्त्रीय संगीत एक विशेष सभ्रान्त वर्ग का संगीत है जिसमें शब्द; व्याकरण आदि का बड़ा ही कठिनता से पालन करना अनिवार्य है परन्तु लोकगीत स्वरगीत है। इसमें भाव को ही प्रधानता दी जाती है। इसके रचयिता कोई एक व्यक्ति नहीं होते हैं। यह समूह गान है और इसका मुखड़ा एक व्यक्ति बनाते हैं तो अन्तरा कोई दूसरा व्यक्ति। इसमें अन्तरे सीमित नहीं/होते हैं। यह लोकगीत समाज का दर्पण होता है। किसी समाज की स्थिति क्या है वह वहाँ के लोकगीत से ज्ञात हो जाता है।

लोकगीत के संबंध में कुछ प्रसिद्ध विचार :

शास्त्रीय संगीत के महान संगीतज्ञ कुमार गंधर्व के उद्गार 'यह बात सर्वविदित है कि हमारे शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति लोकसंगीत से हुई है।'

पद्मश्री डॉ शांति जैन की कोमल भावनात्मक अभिव्यक्ति:

'लोकगीत उन वनफूलों की तरह है जो स्वतंत्र वातावरण में खिलते और विकसित होते हैं।'

विश्वकवि रविन्द्रनाथ के शब्दों में: 'यदि सब देशों के लोकगीत संकलित किये जा सकें और उनका तुलनात्मक अध्ययन हो तो यह प्रत्सक्ष होगा कि एक ही मन और एक ही हृदय छिपा है जो मनुष्य में समान हैं।

हमारा राज्य बिहार एवं इसके लोकगीत

बिहार राज्य के लोकगीत इस प्रकार हैं- भोजपुरी लोकगीत, मैथिली लोकगीत, फगुआ, चैता, हिंडोला, चर्तुमासा, बारहमासा, संस्कार गीत, गाथागीत, पर्वगीत, ऋतुगीत, सीमांचल क्षेत्र की क्षेत्रीय भाषा सुरजापुरी में सुरजापुरी गीत।

बिहार राज्य के सीमांचल क्षेत्र में स्थित चार जिलों में से कटिहार जिले के क्षेत्र में हो रहे सुरजापुरी भाषा एवं लोकगीत का वर्णन आगे मैं करने जा रही हूँ।

कटिहार जिला बिहार राज्य के पूर्वी भाग में स्थित एक ऐतिहासिक

शहर है। यह कटिहार जिले का प्रशासकीय मुख्यालय है। कटिहार एक ऐतिहासिक स्थल है। लगभग 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यहाँ पर मोहम्मदीन के शासकों ने यहाँ अपना शासन किया। 1770 ई. में जब मोहम्मद अलीखान पूर्णिया के गवर्नर थे। उस समय यह जिला ब्रिटिशों के हाथों में चला गया। इस तरह काफी दीर्घ समय तक विभिन्न शासकों ने यहाँ शासन किया। एक लम्बे अर्से के बाद पूर्णिया प्रमंडल से अलग होकर 2 अक्टूबर 1973 ई. को कटिहार को स्वतंत्र जिले के रूप में घोषित किया गया।

कटिहार जिले का कुल क्षेत्रफल 3057 वर्ग किलोमीटर है। इस जिले का शहरी क्षेत्र 68 वर्ग किलोमीटर है। कटिहार जिले में हिन्दी अंगिका के अलावा बंगला, सुरजापुरी, आदि भाषाओं का प्रयोग होता है। कटिहार जिले के अन्तर्गत बारसोई, सुधानी, शालमारी, आबादपुर, दासग्राम आदि स्थान आते हैं। यहाँ प्रायः लोग सुरजापुरी भाषा ही बोलते हैं। सुरजापुरी भाषी लोग बहुत ही सरल व सहज स्वभाव के होते हैं। इनका रहन-सहन सादगी भरा होता है। इनका घर कृषिकार्य के द्वारा चलता है; परन्तु आजकल ये लोग नौकरी भी करते हैं साथ ही आजीविका के रूप में विभिन्न क्षेत्रों में जाकर कई प्रकार के कार्य भी करते हैं। कटिहार जिले में अनेक दर्शनीय स्थल भी है जिसमें त्रिमोहिनी संगम; मनिहारी अतुल्य है। अन्य देखने योग्य स्थान बाल्दीबाड़ी, बेलवा, कल्याणी झील, गोगाबिल झील, नबावगंज और गुरुद्वारा जिनके नाम यथा लक्ष्मीपुर आदि।

त्रिमोहिनी संगम : कटिहार जिले के कुर्सेला प्रखंड में त्रिमोहिनी संगम स्थित है। यह तीन नदी क्रमशः गंगा, कोशी और कलबलिया का संगम स्थल है। इस पवित्र संगम स्थल में 1948 ई. में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की अस्थि विसर्जित की गयी थी।

लोग त्रिमोहिनी संगम में विभिन्न शुभ तिथि को गंगा स्नान करने आते हैं। कटिहार जिला के अन्तर्गत लगभग 25 कि०मी० दक्षिण की ओर मनिहारी नामक स्थान है।

मनिहारी के संबंध में किंवदन्ति है कि इस स्थान में भगवान श्री

कृष्ण जी से एक मणी यानी अंलकार खो गया था जिसको खोजते हुए भगवान यहाँ तक पहुँचे थे और यही कारण है कि इस स्थान का नाम मनिहारी पड़ा। यहाँ पर गंगा नदी प्रभावित होती है। श्रद्धालु, पुण्य स्नान करने मनिहारी आते हैं।

कटिहार जिले के अन्तर्गत बारसोई क्षेत्र से कुछ दूरी पर स्थित बेलवा दुभी-सुभी नामक बहुत प्रसिद्ध स्थल है। बेलवा में प्राचीन इमारतों सहित भगवान भोलेनाथ एवं माता सरस्वती देवी की प्रस्तर की मूर्तियाँ हैं। हर साल यहाँ वसंत पंचमी के शुभ अवसर पर मेला लगता है। दूर-दूर से लोग यहाँ आते हैं।

दुभी-सुभी स्थान के बारे लोगों कहना है कि यहाँ एक नवयुवक कुश से अपना गला काटकर अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था। लगभग 70 वर्ष पूर्व की यह घटना बताई जाती है। इस स्थान का धार्मिक कारणों से भी बहुत अधिक महत्व है। इसके अलावे दर्शनीय स्थलों में कल्याणी झील में माता कल्याणी देवी का एक मंदिर है। यहाँ पत्थर का शिवलिंग है और यहाँ प्रतिवर्ष माघी पूर्णिमा के दिन मेला लगता है और लोग पूजा-अर्चना के लिए यहाँ आते हैं। गोगाबिल झील पक्षी अभ्यारण के लिए बहुत प्रसिद्ध है एवं लक्ष्मीपुर में गुरु तेज बहादुर की याद में गुरुद्वारा बनाया गया है। इस गुरुद्वारा में गुरुजी क कई अमूल्य धरोहर सुरक्षित है। यहाँ प्रतिवर्ष गुरु तेग बहादुर जी का बलिदान दिवस मनाया जाता है। नवाबगंज में मुगलकालीन गर्वनर नवाब शाकतगंज का सिंहासन विरासत के रूप में आज भी मौजूद है, जिसे लोग देखने आते हैं। नवाबगंज का आम भी काफी मशहूर है।

कटिहार जिले के विभिन्न सुरजापुरी गाँव से यह जानने का मौका मिला कि पहले की अपेक्षा अभी लोग आचार अनुष्ठानों में सुरजापुरी गीत कम गाते हैं। पहले जैसे हर रीति-रिवाज में गीत गाया जाता था, बुजुर्गों का कहना है कि लड़के जन्म पर, होली में, मुंडन में, विवाह में गीत बड़े ही उत्साह के साथ गाये जाते थे। लोग खूब इसका आनन्द उठाते थे।

अब लोग पढ़-लिख गये, अंग्रेजी सीख गये अब इस कला का

महत्व उनकी नजरों में घट गया। इस भाषा एवं कला को बोलने में शर्म महसूस करते हैं। कुछ प्रौढ़ महिलाओं से बातचीत के त्योहार अथवा शादी-ब्याह में बड़ी ही खुशी का माहौल है पूछने पर वे लोग अपनी भाषा में बोली, “लोकर उत्साह कोमे गेलहे आजकार पीड़ि लजा छोक, सुरजापुरी बोलते गाते सीखुआ नि छाहछोक गीतला। हमसार खुना खांब गिरदाछिनु हमरा। हमरा खॉबगाय, कतेक हँसि-ठट्टा कोरछिनु।”

(नहीं आज लोगो का उत्साह बहुत कम हो गया है। आज की पीढ़ी शर्माती (लजाती) है सुरजापुरी बोलते, गाते नहीं सीखना चाहती है। हमारे समय खुब गाते थे। हमलोग सभी कितना हंसी मजाक करते थे)। मेरे यह पूछने पर कि इस परम्परा का भविष्य के बारे में आपलोग क्या कहेंगी? तो चिंता जताते हुए वे लोग बोली कि काहमु बड़ा चिन्तार बात छे (क्या कहे बड़ी चिंता की बात है)। “हाँ कुछजन छे इ पिउरि जे सुन-सुन खिखिल्हे औरा कोरुरां पारबे तब न! हमरा ते चाहछि करे जे इटा परंपरा इलागान सॉब राहे जोक सॉबगाय जानोक हमसार सुरजापुरी बात ला।”

(हाँ कुछजन हैं इस पीढ़ी के जो सुन-सुनकर सीखी है। वो लोग कर पायेगी तब ना। हमलोग तो चाहते हैं कि ये परंपरा ये गान सब रह जाये। सभी जाने हमारी सुरजापुरी बातें।) ये पुरानी बातें याद करते हुए उभरी आँखे डबडबा आई। मुझसे अपनी बातें बताकर वे काफी हल्का महसूस कर रही थी। मेरे द्वारा विश्वास दिलाने पर कि ये परम्परा संस्कृति कला को मेरे द्वारा एकत्रित किया जा रहा है तो उनलोगों ने विश्वास-अविश्वास मिश्रित भाव से मेरी ओर देखने लगीं। मेरे बहुत आग्रह करने पर वे कुछ गीत गाने को राजी हुई। उनके द्वारा गाये गये विवाह संस्कार गीत निम्नांकित है

“जैखुन नेमुर हिरिझिरि पातो गो,
तैखुन नमु राहलेन निरमालो गो।
जैखुन नेमुर एकाटि नि पातो गो,
सैखुन नेमु विभा कोरिबा साजे गो।
छिड़ियाय दिमुगो अधली सुक्की
धोड़िया दौड़ामु गो।

बाहिर कोरिमु हिम्मत चोरेर बेटी गो?
बाहिर कोरिमु कंजुसेर बेटी गो।”

इस गाने का अर्थ है जब नेमु (निंबू- दुल्हा, लड़का का प्रतीक) पत्तों से घिरा हुआ था तब वह विवाह के लिए नहीं माना और जब नींबू पतझड़ का शिकार हुआ तब वह ब्याह के लिए माना। यह एक प्राचीन काल का गीत है। कहने का आशय है कि लड़का जमीनदार घर का है जो समय रहते हुए विवाह के लिए राजी नहीं हुआ और जब सर के बाल झर गये उम्र ज्यादा हो गयी तो विवाह के लिए हामी भरा। यहाँ दुल्हन के पिता को हिम्मत चोर कहा गया है यानी लड़की के पिता गरीब है वह इतने बड़े घर में अपनी लड़की का विवाह देने में अपने को असमर्थ समझ रहे हैं और लड़की को शादी नहीं दिलाना चाहते हैं। वह देर कर रहे हैं और लड़के वाले छिड़ियाय दिमु अधली सक्की यानि सोने के पैसे की बारिश कर देना चाहते हैं। यह बात यह दर्शाता है कि प्राचीन काल में लड़केवाले लड़कीवालो से पैसे देकर विवाह करते थे। इस गीत से उस समय के समाज की स्थिति के बारे में हमें पता चलता है।

सुरजापुरी लोकगीत सीमांचल को एक मीठी सी धरोहर है। अभी तक 16 संस्कार गीत, कृषि संबंधित गीत आदि संग्रह कर पाई हूँ जो कि माटी की सुगन्ध से ओत-प्रोत है।

सुरजापुरी लोकगीत पर शोध करने का एक मात्र उद्देश्य इसे एकचित्र कर जन-जन तक पहुँचाना एवं इसे खोने से बचाकर हमेशा के लिए सजीवता प्रदान करना है।

संदर्भ :

1. संगीत यूजीसी नेट/जे आर.एफ./स्लेट, अरिहन्त पब्लिकेशन्स (इण्डिया) लिमिटेड।
2. पद्मश्री डॉ. जैन शांति विश्वविद्यालय प्रकाशन; वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999
3. धन्यवाद बारसोई के ग्रामवासियों को
4. धन्यवाद सुधानी के ग्रामवासियों को।



संगीत में छुपे स्वास्थ्य के राज

सोनिका कुमारी

संगीत एकमात्र ऐसा साधन है जिससे मनुष्य का जीवन सरस बनाया जा सकता है, यह मात्र मनोरंजन नहीं है। यदि इसे भावनाओं और प्रेरणाओं से अनुप्रमाणित किया जाए तो इसका परिणाम साधारण नहीं होगा। बल्कि इस विस्तृत वातावरण को उच्च से उच्च परिस्थितियों से भरा-पूरा बनाने में सहायक हो सकता है। यदि संगीत न रहे तो यह दुनिया बड़ी ही निरस, रुखी एवं कर्कश प्रतीत होने लगेगी, कोलाहल शोरगुल एवं समस्याओं से भरी हुई इस दुनिया में यदि ईश्वर का कोई उत्तम वरदान मनुष्य को मिला है तो वह संगीत ही है, संगीत द्वारा पीड़ित हृदय को शांत और संतोष मिलता है। गायन-वादन से ऐसे तरंग उत्सर्जित होते हैं जिससे हमारे आंतरिक लक्षण अनायास ही बदल जाते हैं और किसी गाने की धुनों के साथ-साथ पैर खुद-ब-खुद ही गति करने लग जाते हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि संगीत का मानव जीवन और आत्मा से सीधा संबंध है। संगीत में शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों को ताकतवर बनाने वाले तत्व पूर्ण रूप से विद्यमान हैं, इस संबंध में पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताएं भी भारतीय दर्शन की पुष्टि करने लगी हैं, विश्व विख्यात गायक एनरिको कारुसो (1873-1921) लिखते हैं कि जब कभी गायन की मधुर स्वर लहरिया मेरे कानों में गूंजती तो मुझे ऐसा लगता मानो मेरी आत्मचेतना किसी अदृश्य जीवन दायिनी सत्ता से संबद्ध हो गयी है, मैं शरीर की पीड़ा भूल जाता, भूख-प्यास और निद्रा टूट जाती, मन को विश्राम और

हल्कापन मिलता, मैं तभी से सोचा करता था कि सृष्टि में संगीत से बढ़कर मानव जाति के लिए और कोई दूसरा वरदान नहीं है। कारुसो ने जीवन भर इसकी साधना की और उसमें अभूतपूर्व सिद्धियाँ प्राप्त की। उन्होंने स्वर मधुर ना होने के बावजूद भी यह प्रमाणित कर दिखाया कि संगीत का संबंध स्वर से नहीं हृदय एवं भावनाओं से होता है, कोई भी मनुष्य अपने हृदय को जाग्रत कर परमात्मा के इस वरदान से विभूषित हो सकता है। इस संदर्भ में डॉ० लीक का कहना है कि यदि संगीत को एक दैनिक शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया जा सके तो मनुष्य जाति का बहुत हित साधन हो सकता है। विद्वान ए० हंट के अनुसार संगीत टूटे हुए हृदय की औषधि है। कहा जाता है कि विश्वविख्यात भौतिकवाद आईन्सटाईन ने जब अपने आविष्कारों का दुरुपयोग परमाणु विभीषिका के रूप में देखा तो वह अंदर से टूट गए, निराश जीवन के अंतिम क्षणों को उन्होंने वायलिन वादन के सहारे काटा। मानसिक एकाग्रता और जागरूकता के विकास में गायन वादन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, संगीत का कठोर मन वालों पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है, त्रावनकोर (त्रिवंतपुरम) के प्रसिद्ध वायलिन वादक कडीवेल्लू के जीवन में घटित एक घटना से इस सत्य को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है, वह प्रवास में कहीं जा रहे थे तो रास्ते में कुछ डाकुओं ने उन्हें लूट लिया किसी तरह अनुनय-विनय करके उन्होंने डाकुओं से अपना वायलिन वापस ले लिया और वहीं बैठ के बजाने लगे। स्वर लहरी से विमोहित डाकू भावविभोर हो गए और लूटा हुआ सारा सामान उन्हें लौटा दिया, डाकुओं ने कडीवेल्लू को कई दिनों तक अपने साथ रखा एवं वायलिन वादन का रसपान करते रहे और अंत में बहुत सारा पुरस्कार देकर ससम्मान उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया। इससे यह स्पष्ट है कि संगीत द्वारा मनुष्य की किसी भी भावना को उत्तेजित किया जा सकता है और समाज में सकारात्मक व्यस्था स्थापित की जा सकती है तथा संगीत की उपयोगिता तभी सिद्ध होती है जब उसे उच्च उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया जाए। संगीत के माध्यम से इलेक्ट्रो

मैग्नेटिक लहरें उत्पन्न होती हैं जो स्नायु प्रवाह पर वांछित प्रभाव डालकर उनकी सक्रियता ही नहीं बढ़ाती बल्कि विकृत चिंतन को रोकती व मनोविकार मिटाती है।

रागों के आधार पर तैयार संगीत अनेक रोगों के लिए लाभकारी साबित होता है, चिकित्सा शिक्षा मध्यप्रदेश(2012) के संचालक डॉ. एचसी तिवारी ने संगीत के रागों पर रिसर्च किया, उन्होंने बताया कि भारतीय शास्त्रीय संगीत एक अपरंपरागत चिकित्सा पद्धति है, इसके द्वारा सभी प्रकार के उम्र वाले एवं व्याधियों से ग्रसित व्यक्तियों का उपचार किया जाता है, यह भौतिक शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक एवं संवेदना के स्तर पर शरीर को प्रभावित करता है एवं मानसिक बौद्धिक तथा सामाजिक कार्यक्षमता को बढ़ाता है। इस प्रयोग के अंतर्गत संगीत सुनने से पहले, सुनने के दौरान तथा सुनने के बाद में मस्तिष्क तरंगों की जांच एक स्केन (ईसीजी) के द्वारा की गयी एवं यह पाया गया कि संगीत सुनते समय थीटा तरंगों (जो कि मस्तिष्क को शांत एवं अलौकिक अनुभवों से संबंधित है) की सक्रियता अत्यंत बढ़ गयी थी। आणविक (शक्तिशाली) स्तर पर यह प्रयोग जब मस्तिष्क से संबंधित मनोविकारों से पीड़ित व्यक्तियों पर दोहराया गया तो इसका परिणाम आश्चर्यचकित कर देने वाले थे। वैसे तो इस बात में कोई संदेह नहीं कि दवाईयों से औषधियों से रोग को दूर किया जाता है परन्तु उनमें कुछ त्रुटियां ऐसी हैं जो कभी-कभी बड़ी घातक सिद्ध हो जाती है, यह रोग को दूर तो करती है परन्तु अपना एक विशेष प्रभाव छोड़ जाती हैं जिससे किसी और रोग के होने की संभावना बनी रहती है परन्तु संगीत इसके बिलकुल विपरीत है। संगीत के कोई Side Effect नहीं होते। संगीत हर चीज में perfect साबित होता है।

संगीत में प्रयुक्त सात स्वरों सा, रे, ग, म, प, ध, नि द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक स्वास्थ्य को बल मिलता है; जैसे,

⇒ सा(षड्ज): सा स्वर नाक, कंठ, हृदय, तालू, जिह्वा और दांत इन छः स्थानों के सहयोग से उत्पन्न होता है। इस कारण से इसे षड्ज कहते हैं। अन्य छः स्वरों की उत्पत्ति का आधार होने के कारण

भी इसे षड्ज कहा जाता है इसका स्वभाव ठंडा आरामदायक एवं रंग गुलाबी होता है, सा स्वर के देवता अग्निदेव को माना जाता है। सा स्वर के प्रभाव से पित्त रोग से पीड़ित रोगियों को आराम मिलता है।

⇒ रे(ऋषभ)- रे की प्रकृति शीतल तथा शुष्क होती है एवं रंग हरा व पीला मिला हुआ होता है एवं ब्रह्मा जी को रे स्वर का देवता माना जाता है। यह स्वर कफ एवं पित्त रोग से निजात दिलाने में मदद करता है।

⇒ ग(गंधार)- गंधार स्वर नाभि से उठकर जब कंठ और शीर्ष से टकराकर नासिका (नाक) की गंध से युक्त होकर निकलता है तब उसे गंधार कहते हैं। ग स्वर का स्वभाव ठंडा होने के साथ रंग नारंगी होता है। इस स्वर की देवी माँ सरस्वती को माना जाता है यह पित्त रोगों का नाश करता है।

⇒ म(मध्यम)- इस स्वर की प्रकृति चंचल है इसका स्वभाव शुष्क एवं रंग गुलाबी होता है। इस स्वर के देवता महादेव हैं। यह वात और कफ रोगों के विनाश में लाभकारी माना जाता है।

⇒ प(पंचम)- नाभि, हृदय, कंठ और शीर्ष इन पाँच स्थानों का स्पर्श करने के कारण इसे पंचम बोला जाता है, इसकी प्रकृति उत्साहपूर्ण एवं रंग लाल होता है। इस स्वर की देवी माँ लक्ष्मी को माना जाता है। प स्वर से कफ रोग का विनाश होता है।

⇒ ध(धैवत)- ध स्वर सा, रे, ग, म, प इन पाँच स्वरों का अनुसंधान करता है। इस स्वर की प्रकृति चित्त को प्रसन्न और उदासीन दोनों बनाती है। गणेश जी को इस स्वर का देवता माना गया है। इस स्वर से पित्त रोगियों को लाभ मिलता है।

⇒ नि(निषाद)- यह स्वर अपनी तीव्रता से सभी स्वरों को दबा देता है। इसका स्वभाव ठंडा-शुष्क एवं रंग काला होता है। इसके देवता सूर्य हैं एवं इससे वात रोगों का विनाश होता है।

संगीत प्रेमी कार्लाइल ने कहा है कि संगीत के पीछे-पीछे खुदा चलता है और जहाँ पर स्वयं भगवान होंगे वहाँ भला कैसे कोई रोग टिक सकता है। शरीर और मन को उभयपक्षीय शक्ति प्रदान करने की

जिस सरलता और अधिकता भरी क्षमता गायन में है उतनी और किसी में नहीं। भावनात्मक उल्लास के प्रभाव से मानसिक तनावों एवं अवसादों का भी निवारण होता रहता है। सूक्ष्म स्वरूप के दबने उभरने से जो शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में असंतुलन उत्पन्न होता है उसे स्वर विज्ञान के आधार पर उपयुक्त गायनों के विधान से संतुलित किया जा सकता है, सामान्यतया गायन को एक आकर्षक मनोरंजन मात्र माना जाता है पर यदि उसके संबंध में गहराई तक उतरा जाए तो प्रतीत होगा कि वह शारीरिक एवं मानसिक रोग निवारण एवं शक्ति सवर्द्धन का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। जो लाभ गायन से मिलता है वह मुंह से बजाए जाने वाले वाद्य से भी होता है। गायन और वादन यदि स्वर शास्त्र के अनुरूप हो तो उसका सुनने वालों पर उपयोगी प्रभाव पड़ता है, मानसिक उपचार में अब संगीत ध्वनि प्रवाह को बहुत महत्व दिया जाने लगा है। पाश्चात्य देशों के प्रायः सभी मानसिक रोगों के अस्पतालों में इस प्रकार का प्रबंध है कि विभिन्न स्तर के पागलों एवं सनकियों को विशेष प्रकार की संगीत ध्वनियों से भाव विभोर कर दिया जाए, इससे उनका उन्माद मिटता है और मनःस्थिति में आशाजनक सुधार होता है। संगीत का अर्थ ही है गायन, वादन, एवं नृत्य का सम्मिलित रूप, संगीत की विशेष प्रकार की ध्वनि तरंगों के साथ नृत्य मुद्राएं मिल जाने से सोने में सुगंध जैसा प्रभाव उत्पन्न कर देती है। घुंघरुओं पायलों की झंकारें, नृत्य प्रवाह में थिरकते हुए पैर जब विशेष प्रकार के संगीत के साथ एकाकार होती है तो उससे केवल नर्तक ही नहीं बल्कि दर्शक भी एक अलग ही मानवी लोक का आनंद अनुभव करने लगते हैं। उस भाव विभोरता वाली स्थिति में मन पर भार पड़े तनाव सहज ही हल्का होने लगता है और उलझी हुई मनःस्थिति बड़ी ही सरलता से सुलझने लगती है। इस प्रकार से गायन वादन नृत्य तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं और तीनों का समायोजन मानसिक स्वास्थ्य को काफी लाभ पहुंचाता है।

अतः प्रस्तुत शोध का एक मात्र उद्देश्य यह है कि इस शोध के माध्यम से जन-जन में संगीत की महत्ता का प्रचार हो और लोग संगीत

के प्रति जागरूक हों और उन्हें यह पता चले कि संगीत किस प्रकार से उनके मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य को बिना कोई नुकसान पहुंचाए बेहतर बना सकता है।

संदर्भ :

1. डॉ. सुभद्रा चौधरी, भारतीय संगीत में निबंध, द्वितीय संस्करण, नई दिल्ली, 2004
2. महेशनारायण सक्सेना, संगीत और जीवन, 2000
3. प्रो. स्वतंत्र शर्मा, भारतीय संगीत का वैज्ञानिक विश्लेषण, प्रयागराज, 2010



ब्रह्मांडीय चेतना का घूर्णन-अक्ष : संगीत

पंकज मिश्रा

इस विश्व की जब सृष्टि हुई होगी, तब शायद सृजनकर्ता ने भी नहीं सोचा होगा कि यह इकाई कैसे अपना संचालन करेगी, कौन-सी ऐसी प्रणाली होगी जो इसे व्यवस्थित संचालित करेगी; परन्तु विश्व ने प्रथमतः स्वयं को जिस प्रणाली के हाथों में सुपुर्द किया वह थी- 'लय'। यदि सूक्ष्मतः अवलोकन करें तो विश्व की समस्त भौतिक-अभौतिक, जैविक-अजैविक क्रियाएँ लयबद्ध रूप में निष्पादित होती हैं।

आदिम-युग में मानव की चेतना में जब विस्तार हुआ, तब उसने प्रकृति के इस लयात्मक रहस्य का अनुभव किया और पशु-पक्षियों के कलरव, नदी-झरनों की कल-कल में व्याप्त संगीत के प्रकृत स्वरूप को पहचाना। यहीं से उसने प्रकृति की इस लयात्मक ध्वनि से अपनी ध्वनि का साम्य स्थापित करते हुए लोक-धुनों का सृजन किया और शनैः-शनैः लोक-धुनों पर उसने अपने हृदय में उमड़ते भावों को शब्द-रूप प्रदान करना आरंभ कर दिया। यही गीत का सर्वप्रथम रूप बना, जिसे 'लोकगीत' कहा गया।

लोकगीत, मानव की नैसर्गिक मनोवृत्ति का निर्विकार दर्पण है, जिसमें सहजता, सरलता और भावों का तीव्र उद्वेग रहता है, जो उस लोक को आह्लादित करने का सामर्थ्य रखता है। यदि साहित्य वांग्मय में भावनात्मकता के सोपान पर विचार करें तो गद्य से अधिक पद्य में भावुकता होती, पद्य में भी कविता, कविता में भी गीतों में, और गीतों

में भी लोकगीतों में। इस प्रकार 'लोकगीत' को साहित्य की आदि-रचना कहा जा सकता है। इन्हीं लोकगीतों के लोकधुनों पर विद्वानों ने जब व्यवस्थित रूप से विचार किया और उसे शास्त्रीयता का अमलीजामा पहनाया, तब कला-गीत अथवा शास्त्रीय संगीत का प्रादुर्भाव हुआ। मानव जीवन नश्वर है, मानव-स्वर भी नश्वर है, परन्तु 'गीत' अनश्वर है और मानव उसी क्षणभंगुर स्वर के सहारे अनश्वर गीत के रचने का उपक्रम निरंतर करता रहा। जैसा कि डॉ. रामकुमार वर्मा लिखते हैं-

*नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत,
जीवन की इस प्रथम हार में, कैसे देखूँ जीत?*

चेतना-सम्पन्न प्राणी मानव ने कालान्तर में गीत को उसके बदलते स्वरूपों के साथ-साथ अपने उसी नश्वर स्वरों में कई संज्ञाएं, यथा - गीत, गान, गीति, और गीतकाव्य आदि प्रदान कीं। वर्तमान में गीत के कई रूप हमारे समक्ष मिलते हैं जिसमें प्राचीन छंदकाव्य, कविता, गजल आदि समाहित है। काव्य, गीत तत्व से ही कालजयी बनता है। दिनेश सिंह तो यहाँ तक कहते हैं कि "जीवन की जिस गुणगुनाहट को अन्य कला विधाएं मानवीय संवेदना से भरे पूरे राग में नहीं गा पातीं, उसे कविता गाती है।" यहाँ कविता को गाना, कविता में अंतर्निहित गीत-तत्व का परिचायक है। गीत यदि रूपवान युवती है, तो संगीत उसके रूप को द्विगुणित करता आभूषण। बिना संगीत के गीत, अधूरा ही लगता है। केशवदास की पंक्तियाँ इस बात को पुष्ट करती हैं कि बिना अलंकरण के काव्य सुहाता नहीं है -

*जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण विनु न बिराजई, कविता, बनिता, मित्र॥*

भारतवर्ष के इतिहास में जिस भारतीय सनातन परंपरा के ज्ञानपुँज से विश्व आलोकित हुआ, उन वेदों की ऋचाओं से लेकर वर्तमान आधुनिक जगत की पाश्चात्य-मिश्रित संगीत परंपरा तक, भारतीय संगीत का लोहा समूची दुनिया ने माना है। हाल ही ऑस्कर में दक्षिण भारतीय फिल्म के 'नाटू-नाटू' गीत ने दुनिया को फिर से भारतीय संगीत की महान परंपरा से अवगत कराया है।

जहाँ तक भारतीय राजभाषा हिंदी की बात है, तो हिंदी साहित्ये-तिहास में हिन्दी के वास्तविक स्वरूप के पूर्व अपभ्रंश काल की रचना हम्मीर-रासो स्वयं बैलेड्स (वीरगीत) का संकलन है। हिन्दी के आदिकाल के ही विद्यापति को पहला गीतकार घोषित किया गया है। इसके पश्चात यह परंपरा लगातार जारी रही। भक्तिकाल में जहाँ गीतों ने आमजनों के हृदयपटल पर भगवत् भक्ति का प्रचार-प्रसार किया, तो वहीं रीतिकाल में गीत कलापक्ष और शास्त्रीयता से संपृक्त काल रहा।

आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं आत्म-गौरव और राष्ट्रीय चेतना जागृति के निमित्त कई गीतों की रचना की। हिन्दी का छायावाद युग तो गीतों का स्वर्णिम युग रहा जिसने, भारतीय जनमानस को गुलामी की त्रासदी के कटु अनुभवों से निजात पाने और अपनी कल्पनाओं को नया आकाश प्रदान करने में महती भूमिका का निर्वाह किया। परन्तु इन कल्पनाओं में विचरण करता हुआ मानव भी धरती की वास्तविकता से कटा हुआ नहीं था, उसके गीतों में सामाजिक-राजनीतिक परिवेश की चेतना तब भी प्रबल रही और उस समय भी समाज के जागरण के निमित्त अनेक 'जागरण गीत' रचे गए। महादेवी वर्मा का यह गीत स्वाधीनता के निमित्त जनमानस में जागृति का अमिट संदेश देता हुआ दृष्टव्य है -

कह न ठंडी साँस में अब भूल वह जलती कहानी,
आग हो उर में तभी दृग में सजेगा आज पानी।
हार भी तेरी बनेगी माननी जय की पताका,
राख क्षणिक पतंग की है अमर दीपक की निशानी।

स्वतंत्र-भारत में बहुत-सी समस्याओं का जब समाज ने सामना किया, तब भी गीत ने मुखरता से उन समस्याओं को अंकित करते हुए समाज में चेतना का संचार किया। स्वातंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक असमानताओं के बीच पितृसत्ता आम-जन अपने संघर्ष के क्षणों को गीतबद्ध कर युग की गिरावट का आईना दिखाते हुए अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त कर रहा था, जैसा कि श्रीकृष्ण तिवारी अपने गीत में लिखते हैं -

रेत पर ऐड़ी रगड़ता थक गया तो,
मन हुआ मैं नदी बनकर बहूँ।

भारतीय संस्कृति की गिरावट नई सदी की एक पहचान बनकर उभरी है। युगों तक जिस संस्कृति का विश्व में अपने आदर्शों के लिए बोलबाला रहा, इक्कीसवीं सदी में वही भारतीय संस्कृति अपने मूल्यों को तिलांजलि दे रही है। पाश्चात्य के प्रभाव से वर्तमान की युवा पीढ़ी व्यभिचार, और व्यसन के अंधकार में इस कदर डूबती जा रही है कि जितना पाश्चात्य वैज्ञानिक अनुसंधानों का भारत को लाभ नहीं हुआ, उससे कहीं अधिक भारत की संस्कृति को आघात पहुँचा है। अपने गीत के माध्यम से उमाशंकर तिवारी इस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं -

बोतल में डूबती दिशाएँ, ऊँचे पुल वाले मन्सूबे
एक घूँट सारा कोलाहल, चुप्पी की लहरें ले डूबें।

प्रेम, गीत की भाँति ही शाश्वत है, प्रेम-जन्म 'विरह' गीतों को भावात्मक ऊँचाई प्रदान करता है। यह भारतीय भारतीय समाज की विडम्बना है कि जहाँ समाज के आराध्य देव 'राधा-कृष्ण' प्रेम की साक्षात् मूर्ति स्वरूप में पूजित हों, उस समाज में प्रेम को लोक की नजरों से छुपाना पड़ता है। पितृसत्तात्मक समाज में कन्या के जीवन में प्रेमी का होना समाज को अखरता है, जिसके चलते जीवन उस असंगति के साथ जीना पड़ता है। जहाँ मन रूपी कलि किसी और भ्रमर को मधुरस पान कराती है, तो तन रूपी पुष्य किसी और सेज पर कुम्हला रहा होता है। मेरठ निवासी भारत भूषण अपने एक गीत में भारतीय मानस की इसी कष्टकारी असंगति का वर्णन करते हुए लिखते हैं -

यह असंगति जिंदगी के द्वार सौ-सौ बार रोई,
बाहं में है और कोई, चाह में है और कोई।

भौतिकवाद का एक अभिशाप है- रिशतों का औपचारिक होना। रिश्ते भावनाओं के सहारे बनते और निभाए जाते हैं, किन्तु जब उनमें

व्यक्ति अपना भौतिकवादी दृष्टिकोण समाहित करता है, तब वे रिश्ते अपने उच्चादर्श रूप को त्याग मात्र एक 'औपचारिकता' का पर्याय बन कर रह जाते हैं। ऐसे रिश्तों में भावों का ठोसपन नहीं होता। खोखले रिश्ते फिर क्षण-क्षण बनते और बिगड़ते हैं। अवसरवादिता के सहारे ऐसे खोखले आभासी रिश्ते निभाने का ही यह परिणाम है कि हम "अतिथि देवो भवः" से चलकर "अतिथि! तुम कब जाओगे" तक आ पहुँचे हैं। इन खोखले आभासी रिश्तों पर अपने गीत में त्रिलोक सिंह ठकुरेला चिंता व्यक्त करते हैं-

संस्कृति लज्जित बहुत ही, मूल्य वनवासी हुए हैं
औपचारिकता बची, सम्बन्ध वनवासी हुए हैं।

स्पष्ट है कि दुनिया में जब-जब किसी विचार या क्रांति का शंखनाद हुआ, गीत-संगीत ने उसमें अहम भूमिका का निर्वाह किया; फिर चाहे वह मध्यकाल में सांस्कृतिक संगठनात्मक एकता कायम करना हो, स्वातंत्र्य-समर में क्रांतिकारी चेतना को जगाना, अथवा स्वातंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक-राजनैतिक, धार्मिक-आध्यात्मिक जागृति का कार्य हो।

विश्व कोरोना जैसी भयावह महामारी की चपेट में था पर भारत दुनिया को बता रहा था कि कैसे वह अपनी नैसर्गिक उत्सवधर्मिता से इस संकट को कभी शंख बजाकर, कभी थाली बजाकर अपने सेवाकर्मियों को प्रेरित करते हुए निजात पा रहा है। यह संगीत की ही सामर्थ्य थी जो चारों ओर विश्व में मृत्यु के विनाशकारी तांडव के समक्ष निःसहाय होते मानव को संबल प्रदान कर रही थी। प्रलयकारी परिदृश्य में शून्य की तरफ बढ़ते हुए भारतीय मनुष्य ने टेलीविजन पर प्रसारित रामानंद सागर के 'रामायण' सीरियल की आरंभिक चौपाई "मंगल भवन अमंगल हारी, द्रवहु सुदसरथ अजिर बिहारी", के बार-बार गायन में ही आशा की ज्योति जलाए रखी।

जब महर्षि बाल्मीकि "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः, यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्", कह कर प्रथम काव्य

रचकर संसार को यह दर्शाते हैं कि काव्य का सृजन करुणा से होता है, और बुद्ध कहते हैं कि “संसार दुःख-मय है”, तब यह कहा जा सकता है कि समूचा संसार काव्यमयी है। संसार में प्रत्येक पल कोई न कोई अपने आर्त हृदय से पुकार रहा है और उस पुकार में उसके हृदय में व्याप्त करुणा का संगीत प्रतिध्वनित हो रहा है।

जब तक प्राणी है, विश्व है, तब तक विश्व में संगीत रहेगा; इसीलिए गोपाल दास ‘नीरज’ अपने एक गीत की अर्धाली में “गीत को दर्द का पहला बेटा”, स्वीकारते हुए गीतों की उम्र बयाँ करते हैं-

“आयु है जितनी समय की गीत की उतनी उमर है ,
चाँदनी जब से हँसी है रागिनी तब से मुखर है।”

इस तरह से यह पूरा विश्व संगीत की अमूर्त गूँज की मूर्त सत्ता के सदृश हमारे समक्ष, उमाकांत मालवीय की पंक्ति “गीत एक अनवरत नदी है” को चरितार्थ करते हुए उपस्थित हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यदि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूर्णित है, तो यह ब्रह्मांड जिस अक्ष पर घूर्णित है, वह ‘संगीत’ है।



टुमरी : गायकी एवं संरचना

प्रीति मिश्रा

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में टुमरी ऐसी गेय विधा है जिसमें लोक और शास्त्रीय दोनों प्रकार के संगीत तत्व हैं। टुमरी हिन्दुस्तानी संगीत की वह आधुनिक शैली है जो मुख्यतः शृंगार रस से ओत-प्रोत है। लोक-संगीत की तरह नियमों का कड़ा बन्धन न होने और पद-प्रधान होने के कारण टुमरी गायन शैली लोक संगीत के निकट है तथा व्यक्तिगत विकास और परिष्कार द्वारा निर्मित होने तथा स्वर पक्ष के फैलाव और प्रधानता तथा रागाधारित होने के कारण शास्त्रीय संगीत के निकट है। इसीलिए इसे 'उपशास्त्रीय' विधा माना जाता है।

टुमरी का भाव उसके विषय, उसकी प्रकृति के अनुकूल उस प्रदेश की लोकभाषाओं में से है, जहाँ टुमरी उपजी है।

आचार्य वृहस्पति के मतानुसार 'टुमरी' शब्द के 'टुम' और 'री' दो अंश हैं। टुमरी टुमकने का द्योतक है और री अंतरंग सखी से अपने अन्तर की बात कहने का।¹

डॉ. अरविंद कुमार के अनुसार, टुमरी शब्द के 'टुम' और 'री' दो अंग हैं। 'टुम' टुमकाने का द्योतक है और 'री' अंतरंग सखी से अपने अन्तर के बात कहने का। अर्थात् राधा कृष्ण के केलि-क्रीड़ा से आरंभ कर सामान्य नायक-नायिकाओं के रस भरे शृंगार की अभिव्यक्ति टुमरी में है।²

विद्वानों ने टुमरी शब्द की उत्पत्ति टुमक शब्द से ही माना है। यह गायकी साधारण नर-नारी से लेकर राधा-कृष्ण के प्रेम वर्णन अथवा विरह वर्णन पर आधारित है।

प्रत्येक कलाकार अपनी कल्पना, प्रेरणा तथा अनुभवों से विविध-स्वर समूहों पर बोलों के शब्दों का भावात्मक-रसात्मक बनाकर अपनी गायकी प्रस्तुत करता है। अतः हम कह सकते हैं कि तुमरी मूलतः कौशिकी वृत्ति के आश्रय से नृत्य और भावाभिनय सहित गाई जाने वाली स्त्रियोचित, सुकुमार, मधुर और लालित्य गान विधा है।

गीत में निहित भावों को व्यक्त करने के लिए तुमरी में निम्न साधनों का उपयोग किया जाता है-

1. स्वर-सौंदर्य : वे सभी तत्त्व इसमें आते हैं जो भारतीय शास्त्रीय संगीत में सहायक होती है; जैसे- आलाप, ताल, मीड़ सूत, खटका, मुरकी इत्यादि। इसमें अंतिम दो को छोड़कर शेष सभी ख्याल से ली गई है, किन्तु तुमरी आलाप तान ख्याल के आलाप और तानों से बहुत छोटे होते हैं और उनकी तरह बोझिल नहीं होते।

2. अन्य रागों के स्वर और उनकी छाया : तुमरी अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इनका प्रयोग करती है और ये तुमरी के रागों के अनुकूल होते हैं।

3. ध्वनि का उतार-चढ़ाव : इसका प्रयोग कविता में निहित भावों को प्रभाव पूर्ण रूप से प्रकट करने के लिए किया जाता है और यह उतार चढ़ाव स्वभावतः स्वरों पर निर्भर होती है।

तुमरी अपने स्वरूप को प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त साधनों और उपायों को एक साथ ही आरम्भ से प्रयोग में नहीं लायी। ऐसा होना संभव नहीं था। इनका प्रयोग धीरे-धीरे हुआ। तात्पर्य यह है कि जो तुमरी आजकल प्रचलित है, वह कई अवस्थाओं से होते हुए आज हमें प्राप्त हुई है।

तुमरी की शैलियाँ

बंदिश और गायन शैली ये दो चीज किसी भी गायन के प्रकार के लिए मूलभूत आधार होते हैं। स्वर तालबद्ध पद रचना को 'बंदिश' कहते हैं और बंदिश के आधार पर की जानेवाली प्रत्यक्ष गान क्रिया को गायन शैली कहा जाता है।

तुमरी गायकी को साधारणतया चार भागों में विभक्त किया जा

सकता है। पहला भाग एक छोटा सा आलाप है जिसे पकड़ या 'छेड़ कहते हैं। दूसरे भाग में स्थायी का स्वर-विस्तार करते हुए उसमें निहित बोल के राग व ताल की प्रकृति के आधार पर स्वकल्पनानुसार सजाकर मुखड़े पर आते हैं। स्वरों के विभिन्न संयोग से शब्दों में निहित भावनाओं तथा काव्यात्मक विचारों के अनेक शब्द चित्रों को प्रदर्शित करते हैं।

तीसरे भाग में बहलावे की चालें होती हैं। इस भाग का मुख्य ध्येय भी दूसरे भाग के समान बंदिश में निहित भावों की व्याख्या करना है। परन्तु इसमें क्रमिक रीति का परित्याग कर दिया जाता है तथा स्वर बोल की कुशलताओं को स्वतंत्र ढंग से प्रदर्शित करता है तथा स्वर बोल की भावात्मक अभिव्यंजना जहाँ चाहे दिखा सकता है। फिर थोड़ा-सा अन्तरे का विस्तार करते हैं और इस भाग को समाप्त करते हैं।

चौथा भाग दुगुन कहलाता है यह अंतरे के समाप्त होते ही प्रारंभ हो जाता है। इस भाग में तबला वादक बराबर की लय बजाता है और गायक इस लय में स्वर के विभिन्न उतार-चढ़ाव के साथ शब्दों के काव्यात्मक भाव में निमग्न होकर गायन जारी रखता है। तबला वादक यहाँ पर 'लग्गी' का प्रयोग करता है। अन्त में तिहाई के साथ गायन की समाप्ति होती है।

ठुमरी की बंदिशों में निहित बोलों की गतर्यात्मकता और भावाभिव्यंजनात्मकता की प्रधानता के आधार पर कालांतर में ठुमरी की दो प्रमुख शैली का निर्माण हुआ जिन्हें क्रमशः 'बोलबाँट की ठुमरी' और 'बोलबनाव की ठुमरी' कहा गया।³

'बोलबाँट की ठुमरी' में लयकारी या ताल प्रस्तार के अनुसार, शब्दों तथा स्वरों के संयोजन द्वारा बंदिश में वैचित्र्य और चमत्कार की सृष्टि की जाती है तो 'बोल बनाव की ठुमरी' में बंदिश के शब्दों को भावानुकूल काकू द्वारा विभिन्न स्वर समूहों को सजाते हुए श्रोताओं के मन का रंजन किया जाता है।

बोलबाँट की ठुमरी- बोलबाँट की ठुमरी का प्रसार क्षेत्र लखनऊ

के पश्चिम में स्थित फर्रूखाबाद, बरेली, रायपुर, मथुरा, दिल्ली इत्यादि स्थानों की ओर अधिक होने के कारण इसे पछाही तुमरी के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार की तुमरियों में प्रायः बंदिशों की रचना

का चमत्कार सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। अतः इस तुमरी को 'बंदिश तुमरी' या 'बंदिश की तुमरी' भी कहते हैं।⁴

इस तुमरी में काव्यात्मक चमत्कार दृष्टिगोचर होता है; जैसे- धनाक्षरी तुमरी, अधरबन्द तुमरी, अनुप्राण की तुमरी आदि। अधरबन्द तुमरी के काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है कि जिसमें होंठों के प्रयोग की आवश्यकता न हो ऐसी तुमरी की रचना करने में 'ललनपिया' सिद्धहस्थ थे।⁵

इस तुमरी के रचयिताओं में सनदपिया, कदरपिया, अख्यतर पिया, दरसपिया, सुघरपिया, ललनपिया, चाँदपिया, विन्दादीन आदि प्रसिद्ध हैं। इस तुमरी में प्रायः त्रिताल या अद्धा ताल का प्रचलन है। कभी-कभी रूपक, एकताल, आड़ाचारताल, झपताल आदि में भी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। यह तुमरियाँ मुख्यतः मध्य या द्रुत लय में प्रस्तुत किया जाता है।

उदाहरण स्वरूप ललनपिया की धनाक्षरी तुमरी जो अद्धा ताल एवं काफी राग में निबद्ध है-

देखो रोको न छैल मोरी
मत कर बरजोरी
श्याम बनवारी रे एक नटवर गिरधारी
मैं तो पैया लागू तोरी
वो तो ऐसी ढीठ भयो रही॥⁶

बोलबाँट की तुमरी की बंदिशों में अत्यंत सुगठित होती है। लय प्रधान होते हुए भी इन तुमरियों में विविधता के दर्शन होते हैं। लय का विविध प्रयोग एवं स्वरों का अलंकारिक प्रयोग इसकी विशेषता है। गायकी को छोटे-छोटे तिहाइयों से सजाया जाता है।

बोलबनाव की तुमरी की संरचना : चौनदारी व ठहराव बोलबनाव तुमरी की खास विशेषता है। एक ही बोल को भिन्न-भिन्न स्वर-गुंथाव

की सहायता से भिन्न-भिन्न अर्थभाव को व्यक्त करना इसकी अपनी एक विशेषता है। ये पूर्णरूपेण ठुमरी गायक की सौन्दर्य दृष्टि पर निर्भर करता है।

बोलबनाव की ठुमरी की रचना करने में सबसे पहले शब्द, शब्द के अनुसार राग चयन, इस गायन शैली में जिस ताल का चयन करते हैं उसकी अपनी एक खास विशेषता होती है। बोलबनाव की ठुमरी मुख्यतः जत् ताल, दीपचंदी, अद्धा, कहरवा, दादरा, रूपक आदि तालों में निबद्ध किया जाता है। बोलबनाव की ठुमरी में जैसे- 'कैसे मैं होरी मनाऊँ' शब्द का भाव होली के संदर्भ में दृष्टिगत है। अब इस शब्द की रचना राग काफी में किया जाय तो अधिक महत्त्वपूर्ण व प्रभावपूर्ण सिद्ध होगा। इस ठुमरी में शब्दों का बहुत कम प्रयोग होता है और इन्हीं शब्दों को लेकर छोटे-छोटे स्वर समूहों के माध्यम से भिन्न-भिन्न भाव को व्यक्त करता है।

बोलबनाव की ठुमरी- बोलबनाव की ठुमरी का प्रसार क्षेत्र लखनऊ, बनारस, मिर्जापुर, बिहार राज्य के क्षेत्र (यथा गया, पटना, मुजफ्फरपुर आदि) इत्यादि स्थानों की ओर अधिक होने के कारण 'बोल बनाव' की ठुमरी को 'पूरब अंग' की ठुमरी के नाम से जाना जाता है।⁷ यह ठुमरी मुख्यतः गायकी प्रधान है, जिसमें बंदिशों के शब्दों में निहित भावों को स्वरों के माध्यम से अभिव्यंजित कर भावात्मक बनाया जाता है।

बोलबनाव की ठुमरी पर लोकधुनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। अतः इन गायकी में लोकधुन से प्रभावित रागों का प्रयोग दृष्टिगत है। भैरवी, सिंध भैरवी, पीलू, सिंदूरा, बरवा, सोहनी, जोगिया, देश, तिलंग, तिलककामोद, बिहारी, झिंझोटी, गारा, खमाज, पहाड़ी, मांड-कालिंगड़ा, जंगला इत्यादि रागों में यह अधिक गाया जाता है।

बोलबनाव की ठुमरी की भाषा प्रायः ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही बज्जिका रहती है। कभी-कभी एक ही बंदिशों में कई भाषाओं का मिश्रण पाई जाती है। उर्दू-भाषा के शब्द भी व्यवहार में दिखाई

पड़ते हैं। यह गायकी, दीपचंदी, जत्, पंजाबी, सितारखानी आदि तालों में निबद्ध कर गायी जाती है। कहरवा और दादरा ताल का भी प्रयोग दृष्टिगत है। इस गायकी के लय विलंबित होने के कारण बंदिशों में प्रयुक्त शब्दों को परिवर्तन कर भाव प्रकट करने के लिए अधिक सुविधा रहती है।

बोलबनाव की तुमरी की शैलीगत अर्थ में 'अंग' शब्द का व्यवहार किया जाता है। 'अंग' शब्द रचना और शैली को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ बोलबनाव की तुमरियों की क्षेत्रीयता का सूचक भी है। इस शैली में निम्न अंग की तुमरियों का प्रचलन है-

1. पूरब अंग- बोलबनाव की तुमरी का प्रचार विशेष रूप से उत्तर भारत के पूर्वी भाग अर्थात् पूर्वोत्तर प्रदेश और बिहार में होने के कारण ही इसे 'पूरब अंग की तुमरी या पूरबी तुमरी' कहते हैं। इस तुमरी पर इस क्षेत्र के लोक संगीत का स्पष्ट प्रभाव रहता है। यह तुमरी शुद्ध रागों के अपेक्षा रागों को मिश्र कर प्रस्तुत किया जाता है। एक तुमरी के अलंकरण कण, मुर्की, खटका, जमजमा, गिटकरी, मीड़ आदि के प्रयोग से किया जाता है। जिससे हम गायकी में दर्द, हूक, पुकार आदि की भावाभिव्यंजना में सहायता मिलती है। इस अंग में निम्न शैली का प्रचार- प्रसार है।

क. लखनवी शैली- लखनऊ और उसके निकटस्थ क्षेत्रों में विशेषतया प्रचलित होने के कारण इसे लखनवी तुमरी कहा जाता है। इस तुमरी की रचनाओं में ब्रजभाषा के साथ-साथ उर्दू और अवधी भाषा का प्रयोग दृष्टिगत है। यह तुमरी अवध के नवाबी युग की नागरिक संस्कृति से प्रभावित है। इसमें बोलबनाव के कलापक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। बोल बनाव में शृंगार और नफासत की प्रधानता है। इस तुमरी में उर्दू भाषा के शेरों को गायन के बीच-बीच में कहने का प्रचलन भी दिखाई देता है।⁸ इस शैली में भैरवी राग में निम्न तुमरी प्रसिद्ध है जो वाजिद अली शाह 'अख्तर' द्वारा रचित है-

बाबुल मोरा नइहर छुटोही जाय।

चार कहार मिल डोलिया उठावे

अपना बेगाना छूटोही जाय।⁹

नवाबी युग में विकसित होने के कारण इस शैली में नृत्यात्मकता के साथ-साथ नाजो नखरे बनाव शृंगार और नफासत की प्रधानता दिखाई पड़ती है। इस तुमरी पर टप्पा का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।¹⁰

2. बनारसी शैली- बनारस और उसके निकटस्थ क्षेत्रों में विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण इसे बनारसी तुमरी कहते हैं। इस तुमरी की रचनाओं में ब्रजभाषा के साथ-साथ भोजपुरी, मगही आदि पूर्वी बोलियों का प्रयोग परिलक्षित है।¹¹

राग-भैरवी जत ताल

बाजूबन्द खुल-खुल जाय, जाय रे
साँवरिया ने जादू मारा।
जादू की पुड़ीया भर-भर मारे
अंचरा उड़ि-उड़ि जाय रे।¹²

3. गया की शैली- यह तुमरी बिहार क्षेत्र के एवं बनारस में भी प्रचलित रही है। इस तुमरी पर बिहार की लोक-संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस तुमरी में शब्दों को प्रधान मान कर गायकी प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ शब्दों के भावों को प्रकट करने में रागों के स्वरावली की सहायता ली जाती है। इस तुमरी की लय अतिविलंबित होती है। इसमें कहरवा एवं दादरा ताल में भी तुमरी प्रस्तुत किया जाता है। इस ताल का लय भी विलंबित होता है। इन अंग में खटका, मुर्की आदि अलंकरण न के बराबर प्रस्तुत किया जाता है। इस तुमरी में भावों का प्रकटीकरण सीधे-सीधे स्वरों की सहायता से किया जाता है।

राग-काफी

काहे गुमान भरी मुरलिया मुरलिया
मुरलि के धुन सुन घरबार छोड़ी
प्रति करीं बदनाम भई री।¹³

पंजाबी अंग- यह तुमरी 'पुरब अंग' की तुमरी में पंजाब के लोकसंगीत के स्वर-संदर्भों का रंग देते हुए उसे वैशिष्ट्यपूर्ण बनाने से

ही पंजाब अंग की शैली विकसित हुई है। इस शैली में टप्पा की तानों का प्रयोग किया जाता है अर्थात् तानों में प्रत्येक स्वर के दुहरे या तिहरे रूप को इस स्वर के पूर्ववर्ती स्वर के कण का खटका लेते हुए प्रयोग किया जाता है। इस ठुमरी की लय मुख्यतः मध्यलय होती है।¹⁴

राग-भिन्नषड्ज

याद पिया की आये
 ये दुःख सहा न जाये हाय राम।
 बाली उमरिया, सुनी रे सेजरिया
 जोबन बीतो जाये हाय राम॥¹⁵

इस अंग का आकर्षण बोल बनाव में निहित न होकर स्वर समूहों के वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग की ओर अधिक रहता है। अतः यह शैली स्वरवैचित्र्य प्रधान है।

किराना अंग- यह बोलबनाव की ठुमरी का ही एक रूप है। इस अंग पर ख्याल गायकी के किराना घराना का स्पष्ट प्रभाव है। इस गायकी में रागों की शुद्धता का अधिक ख्याल रखा जाता है। ठुमरी में प्रयुक्त रागों से ही भावों का प्रगटिकरण इस शैली की खास विशेषता है।

राग-जोगिया

पिया के मिलन की आस
 दिन-दिन जोबना नहीं जात
 जब से गये मोरी
 सूधई न लिन्हीं
 कैसे जाऊँ में पिया के पास॥¹⁶

बोलबाँट की ठुमरी की संरचना- बोलबाँट की ठुमरी की रचना ख्याल गायन शैली के तरह ही किया जाता है। इस ठुमरी की रचना में शब्दों का बहुत महत्व होता है। इस ठुमरी की रचना में अधिक शब्दों अर्थात् समझत नाहीं पनघट श्याम खमाज में निबद्ध में यह रचना से स्पष्ट है कि शब्दों के बीच में कोई अंतराल नहीं है। ऐसे ही शब्दों को लेकर बोलबाँट की ठुमरी की रचना की जाती है। शब्दों के अनुसार

ही राग, ताल का चयन किया जाता है। अब प्रयुक्त शब्द में निहित भाव राग, ताल में स्पष्ट होंगे, व शब्दों का रख-रखाव किन स्वरों पर करेंगे, ये शब्दों में निहित भाव को समझकर करना ही उचित होता है। सम की व्यवस्था किस शब्द या स्वर पर रखा जाए जिससे कि सम चमके। ख्याल अंग में बजने वाले सभी तालों में बोलबाँट की तुमरी की रचना की जाती है। जैसे- तीनताल, रूपक, कहरवा, दादरा, अद्धा इत्यादि। बोलबाँट के तुमरी में लय के शब्दों के आधार पर तुमरी की रचना होती है-

- धनाक्षरी छन्द : इस प्रकार के तुमरी में घने अक्षर अर्थात् शब्दों के बीच में अंतराल नहीं होता ऐसी रचना को धनाक्षरी छन्द की तुमरी कही जाती है।
- लचाऊ तुमरी : इस तुमरी की चाल में लोच, लचक होती है, ताल तो वही अर्थात् ख्याल अंग के ही प्रस्तुत हाते हैं लेकिन ताल में एक विशेष तरह की लोच व लचक दृष्टिगत होने कारण इसे लचाऊ तुमरी की संज्ञा दी गई।

निष्कर्षतः तुमरी हिन्दुस्तानी संगीत की वह गायन शैली है जो मुख्यतः शृंगार रस से ओत-प्रोत है। तुमरी का मुख्य ध्येय यह है कि उलझे हुए स्वरों के मानसिक बोझ को कम करके हृदय के आकर्षण को बढ़ाया जाय। इसीलिए तुमरी के स्वरों की उलझन और विस्तार को न्यूनतम करना पड़ा ताकि उनके भावों का सौंदर्य भली-भाँति प्रकट किया जा सके। तुमरी गायकी में रस, रंग और भाव की प्रधानता होती है अर्थात् राग की शुद्धता की तुलना में भाव सौंदर्य को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस गायन शैली का अपना एक विशेष चलन, स्वर लगाने का तरीका या रख-रखाव की व्यवस्था, ताल का लगाव अलग है। इस गायन शैली में मुख्यतः शृंगार परक पदों को लेकर ही संरचना की जाती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि तुमरी गायकी का अपना एक विशेष महत्त्व होने के साथ ही साथ इसकी संरचना में चंचलता होते हुए भी चैनदारी व ठहराव इसकी खास विशेषता है और यह

पूर्णरूपेण तुमरी गायक की सौंदर्य दृष्टि पर निर्भर करता है।

संदर्भ:

1. आचार्य वृहस्पति, संगीत चिंतामणि, प्रथम खंड संगीत कार्यालय, सं. लक्ष्मी नारायण गर्ग, हाथरस, पृ. 103.
2. कुमारी डॉ. अंजू, तुमरी लोकतत्व एवं शैलियाँ, अभिधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2011, दिल्ली, पृ. 14.
3. अरविन्द कुमार, तुमरी गायकी और शैलियाँ, संगीत कला, विहार, तुमरी विशेषांक, मई 91, पृ. 112-113.
4. वही पृ. 112
5. देखिए ललन सागर, ललन पिया की तुमरी
6. ललन सागर से, ललन पिया की तुमरी
7. अरविन्द कुमार, तुमरी गायकी और शैलियाँ, संगीत कला विहार, तुमरी विशेषांक मई, 91 पृ. 113
8. वही, पृ. 113
9. भातखंडे, क्रमिक पुस्तक मालिका भाग 2, संपादक व प्रकाशक : लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत प्रेस, हाथरस, पृ. 404
10. शुक्ल, डॉ. शत्रुघ्न, तुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, प्रथम संस्करण, 1983, नई दिल्ली, पृ. 228
11. कुमार अरविन्द, तुमरी गायकी एवं शैलियाँ, तुमरी विशेषांक, संगीत कला विहार, मई, 91, पृ. 113
12. कारवाल, श्रीमती लीला, तुमरी परिचय, प्रचलित एवं अप्रचलित तुमरियों का संग्रह एवं उनकी स्वर लिपि, संगीत सदन, प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 2015, पृ. 65
13. पंडित कामेश्वर पाठक से प्राप्त
14. कुमार अरविन्द, तुमरी गायकी एवं शैलियाँ, तुमरी विशेषांक, संगीत कला विहार, मई 91, पृ. 113
15. उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ द्वारा गाया गया।
16. उस्ताद अब्दुल करीम खाँ द्वारा गाया गया।



उपशास्त्रीय संगीत में भाव-संप्रेषण की तकनीक

रीना दत्त

कला मानव-संस्कृति एवं सौंदर्य की उपज है। कार्य कुशलता ही कला है तथा 'आनंद-दान' ही कला का उद्देश्य है। इसमें संगीतकला अधिक प्रभाव डालनेवाली कला है। मनुष्य के हृदय में सोये हुए भावों को जगाने में संगीत जितना सक्षम है उतनी और कोई विधा नहीं। इस कला में विशेष प्रकार के गुण हैं जिसमें मनुष्य के अतिरिक्त पशु-पक्षियों को भी आकर्षित करने की शक्ति रहती है। प्रत्येक कला के दो मुख्य केंद्र होते हैं। प्राचीन शब्दों में हम कहें तो ये भेद हैं- सात्वती और कैशिकी। अर्वाचीन शब्दों में कहें तो ये भेद हैं- क्लासिकल और रोमांटिक। जिसमें आकार-प्रकार, रूप-विन्यास के सौंदर्य का प्राधान्य हो वह सात्वती वृत्ति या शैली की कला है, जिसमें भाव की कोमलता, सूक्ष्मता और सुकुमारता का प्राधान्य हो वह कैशिकी वृत्ति या शैली की कला है।

उपशास्त्रीय संगीत में शास्त्रीय संगीत तथा लोकसंगीत अथवा शास्त्रीय संगीत और लोकप्रिय संगीत का मिश्रण होता है। लोकगीतों में ध्रुपद, धमार, होली व चैती आदि अनेक विधाएँ हैं जो पहले लोक-संगीत की भाँति प्रकाश में आए और बाद में उनका शास्त्रीयकरण किया गया। इनके शास्त्रीय रूप का विद्वान पूरी तरह पालन करते हैं, लेकिन आज भी लोक-संगीतकार इसके शास्त्रीय रूप का गंभीरता से पालन किए बिना इन्हें सुंदरता से प्रस्तुत करते हैं। उपशास्त्रीय संगीत में ठुमरी, टप्पा, दादरा, चैती, घाटो, कजरी, झूला, होरी इत्यादि आते

हैं। आगे क्रमानुसार इन सभी विधाओं में प्रयुक्त तथा निहित भावों को संप्रेषित करने हेतु उपयुक्त कलाकारिता 'तकनीक' को वर्णित करने का प्रयास किया है मैंने इस शोध के अंतर्गत।

टुमरी

संगीत में 'टुमरी' उपशास्त्रीय संगीत विधा का प्रकार है जो कैशिकी शैली की भावाभिव्यक्ति की कला है। टुमरी की प्रकृति कोमल है। यह हिन्दुस्तानी संगीत की वह आधुनिक शैली है जो मुख्यतः श्रृंगार रस से ओत-प्रोत है। टुमरी की अवतारणा वाद्यों में स्वर, लय व ताल के माध्यम से तथा गायन में इनके साथ-साथ शब्दों के माध्यम से श्रृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। गीत में निहित भावों को संप्रेषित करने हेतु टुमरी में निम्न 'तकनीकों' का उपयोग किया जाता है।

1. स्वर-सौंदर्य : वे सभी तत्व इसमें आते हैं जो भारतीय शास्त्रीय-संगीत में सहायक होती है, उदाहरणार्थ आलाप, तान, मींड, खटका, मुर्की, सूत, खुनकी इत्यादि। किंतु टुमरी के आलाप और तान ख्याल के आलाप और तानों से बहुत छोटे होते हैं और उनकी तरह बोझिल नहीं होते हैं। मुरकियों और छोटी तानों का प्रयोग राग का सौंदर्य बढ़ाने के लिए किया जाता है ।

2. टुमरी और लय-ताल : ख्याल की भाँति टुमरी को भी दो प्रकार से गाया जाता है :

क. विलम्बित टुमरी

ख. द्रुत टुमरी

क. विलम्बित टुमरी : यह जत, दीपचंदी तालों में गायी जाती है जो टुमरी गीतों के भावों को प्रकट करने के लिए उपयुक्त है क्योंकि इस प्रकार बोलों के भावचित्र पूर्ण रूप से व्यक्त किए जा सकते हैं।

हम देखते हैं कि अधिकतर टुमरी प्रस्तोता बोल बनाव की टुमरी में अंतरा गाने के बाद बड़े हुए लय में कहरवा ताल में गायन करते हैं। तबला वादक के लिए यह अच्छा समय होता है जब वो लग्गी-लड़ी के द्वारा अपनी कला का प्रदर्शन कर सके। श्रृंगारिक रचनाओं में यह

ठीक भी है किंतु विरह-विषादपूर्ण तुमरी में यह अशोभनीय और हास्यास्पद लगता है। अतः मर्मज्ञ गायक दीपचंदी अथवा जततालों में गाने के पश्चात् अंतरा में कहरवा में नहीं वरन् तीनताल में ही गायन करते हैं।

जतताल में एक विलंबित तुमरी जो राग झिंझौटी में निबद्ध है-
स्थायी

कौन गली गये श्याम बता दे सखी।

अंतरा

गोकुल दूढ़ी वृदावन दूढ़ी, दूढ़ फिरी चारों धाम

तुमरी का नृत्य से गहरा संबंध है। यह नृत्य के साथ भी गायी जाती है ताकि नृत्य अभिव्यक्तिपूर्ण हो सके, अर्थात् उसके हाव-भाव को सुगमता से समझा जा सके। इसकी कविता में लययुक्त विभाजन तथा उचित बंदिशें होती हैं। ये साधारण रूप से त्रिताल या कहरवा ताल में गाई जाती है।

तीनताल राग बिहाग में निबद्ध एक तुमरी-

स्थायी

सखी प्यारी-प्यारी अखियाँ राधे की।

मन मोह लियो मनमोहन की॥

अंतरा

श्याम सुंदर हमरो अति भोरो।

देखत ही उरझा लेगी॥

3. स्वर-साज और संगीत का संतुलित प्रयोग : तुमरी के लक्षण माधुर्य, भावनात्मकता, चंचलता और मचलाहट के द्वारा भाव-विस्तार होते हैं। ये उसकी गीत रचनाओं, छोटी तानों, ध्वनि बोल-बनाव तथा सहायक साजों यथा सारंगी, हारमोनियम, तबला, तानपुरा आदि में दिखाई देते हैं। मुख्यतः इसका रस शृंगार-रस है।

तुमरी दो प्रकार की होती है।

अ.) बंदिश या बोल-बाँट की तुमरी

ब.) बोल-बनाव की तुमरी

अ.) बंदिश या बोल-बाँट की तुमरी : बोल-बाँट की तुमरी में लय का चमत्कार रहता है। इसमें सितार, सरोद इत्यादि वाद्यों के गत का सौंदर्य रहता है। इस प्रकार की तुमरी नृत्य के लिए बहुत अनुकूल होती है।

ब.) बोल-बनाव की तुमरी : इसमें भावाभिव्यक्ति की प्रधानता होती है। यह स्वर और लय में दिल की कहानी होती है। तुमरी शैली की विशेषताएँ हैं- दर्द प्रकार, झटका, खटका, मुर्का जमजमा, स्वरों की सुकुमार अंगियाँ। इसमें ख्याल की तरह आकार से आलाप या तानें नहीं लेते हैं। केवल उठाने के लिए अथवा समाप्ति के लिए एक विशेष प्रकार से यदा-कदा आकार की अल्प तानें ले लेते हैं।

4. अन्य रागों के स्वर और उनकी छाया : तुमरी अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इनका प्रयोग करती है और ये राग के अनुकूल होते हैं ताकि रागों व छायाओं का प्रयोग भलीभाँति गीत-कविता के भाव को प्रकट कर सके। तुमरी वस्तुतः ध्रुपद और ख्याल के विपरीत एक ऐसी शैली है जिसमें मुख्य राग में दूसरे रागों के स्वरों या छायाओं का प्रयोग होता है वे साधारणतया उसी थाट के होते हैं जिस थाट का मुख्य राग होता है अर्थात् जो मूल राग से मेल खाते हैं इसके विपरीत कभी-कभी अन्य थाट के रागों का भी समावेश किया जा सकता है यदि वे मूल राग के विपरीत न हों। गायक अन्य रागों के स्वरों व छायाओं का प्रयोग इस कुशलता से करता है कि मूल राग से स्वरूप और उसकी प्रधानता में कोई कमी नहीं आती उसका आविर्भाव और तिरोभाव भलीभाँति स्पष्ट होता रहता है या यों कहिए कि यद्यपि अन्य रागों के स्वर और छायाएँ तुमरी के मूल राग में लाये जाते हैं तथापि वह इससे इस तरह मिल जाते हैं कि मूल राग की अखण्डता बनी रहती है। इसके साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए की रागों का मिश्रण जो तुमरी के अंदर किया जाता है बिना किसी उद्देश्य के नहीं होता। यह उद्देश्य कविता के भावों को व्यक्त करते हुए उसे मधुर बनाना है। तुमरी शैली में भाव-संप्रेषण हेतु इसकी उपयोगिता

अधिक होती है। तुमरी की विशेषता अधिक सीमा तक इसी पर आधारित है। अगर ऐसा न करें तो तुमरी का स्वर-विस्तार और इसका बोल-शृंगार पूर्ण रूप से विकसित नहीं होगा और इसका सौंदर्य भी पूर्णतया प्रकट नहीं होगा।

तुमरी अनेक रसों वाला एक भाव-संगीत है जिसमें बोल प्रधान होते हैं। इसमें उचित स्वरों द्वारा न केवल गीत का मुख्य भाव ही प्रकट करना पड़ता है बल्कि और अन्य भाव भी जिनका उसमें आभास हो सकता है। तुमरी गायक जितने अधिक रागों का प्रयोग कर सकता है उतना ही इस संबंध में वह सफल हो सकता है। इस प्रकार से कई राग के स्वरों या छायाओं का समावेश तुमरी गायक अपने क्षमता के अनुसार कर सकता है। लेकिन यह कार्य साधारण गायक के लिए संभव नहीं है। होशियार गायक ही सफलता के साथ इसे करने में सक्षम होता है। तुमरी का स्वरूप कोमल है। अतः यह उन्हीं रागों में गायी जाती है जो उसके स्वरूप से मेल खाते हैं। अन्य रागों में गाने से या तो राग का स्वरूप बिगड़ जायेगा या तुमरी अधखिली रह जाएगी।

5. ध्वनि का उतार-चढ़ाव अथवा काकु का प्रयोग : इसका प्रयोग कविता में निहित भावों को प्रभावपूर्ण रूप से प्रकट करने के लिए किया जाता है और यह उतार-चढ़ाव स्वभावतः स्वरों पर निर्भर होता है। तुमरी का ध्येय यह है कि उलझे हुए स्वरों के मानसिक बोझ को कम करके हृदय के आकर्षण को बढ़ाए। अतः तुमरी को स्वरों की उलझन और विस्तार से न्यून करते हुए भावों के सौंदर्य पर प्रतिस्थापित किया जाता है। इस ध्येय की प्राप्ति हेतु वह अनेक प्रकार के उपायों, साधनों एवं ध्वनियों के उतार-चढ़ाव को प्रयोग में लाती है।

तुमरी गायकी की वह शैली है जिसमें आलपति की मनोहर भंगियों की सुंदर छटा है। काकु की मार्मिक उद्भावना है। भावों की सूक्ष्मता और सुकुमारता है। जिस गान में इस प्रकार का प्रयोग होता है वह तुमरी अंग का गान कहलाता है। इस अंग का गान केवल शृंगार रस का ही नहीं होता। इस अंग के द्वारा भक्ति, करुण, शृंगार, शांत इत्यादि की

भी अभिव्यंजना होती है। इधर पचास-साठ वर्ष के भीतर मौजूद्दीन खाँ से बढ़कर कोई तुमरी गायक नहीं हुआ। जब वे तुमरी अंग से ही 'गोविंद राखो शरण अब तो जीवन हारे' गाते थे तो श्रोतागण आँख पोंछते हुए दिखलाई देते थे। यह कोई नहीं कह सकता कि उक्त भजन श्रृंगार रस का है किंतु उसे मौजूद्दीन खाँ तुमरी अंग से ही गाते थे और ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते थे कि श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे।

6. बोल-भाव की प्रधानता : तुमरी में केवल बोल ही प्रधान नहीं होता वरन् बोल-भाव भी प्रधान होता है अर्थात् उसमें गीत के शब्दों की विशेषता ही नहीं प्रकट किया जाए और उसका साधारण भाव किसी विशेष राग के द्वारा ही नहीं दिखाया जाता, जैसाकि ख्याल प्रकार की बंदिश में होता है, बल्कि इसमें वे काव्य-भाव भी व्यक्त किए जाते हैं जो इसकी कविता में निहित होते हैं।

6. क्रमबद्ध स्वर-विस्तार : पूर्व में तुमरी शैली में एक दोष था कि वह किसी क्रम या विधि पर आश्रित नहीं था अर्थात् स्वरों का क्रमिक स्वर-विस्तार नहीं किया जाता था जैसा कि ख्याल के रागों में किया जाता है। इस कारण तुमरी एक अनियमित गायन शैली प्रतीत होती थी। वैज्ञानिक, शास्त्रीय ढंग से न गायी जाकर गायक की मनोवृत्ति के अनुसार गायी जाती थी। यह दोष गत वर्षों में दूर हो गया है और इसकी तकनीक में क्रमबद्ध स्वर-विस्तार प्रविष्ट हो गया है जिससे तुमरी अपने विकास की उच्च अवस्था पर पहुँच गई है। तुमरी में स्वर-विस्तार से क्रमबद्धता और पूर्णता का आविर्भाव होता है।

टप्पा

टप्पा संगीत की प्रमुख उपशास्त्रीय शैलियों में से एक है। यह माना जाता है कि इस शैली की उत्पत्ति पंजाब व सिंध प्रांतों के ऊँट चलाने वालों द्वारा की गई। इन गीतों में मूल रूप से हीर और राँझा के प्रेम और विरह प्रसंगों को दर्शाया जाता है।

भाव-संप्रेषण की तकनीक :

1. रागों का चयन - टप्पा एक ऐसा गीत होता है जिसमें स्वरों को द्रुत लय में गाते हैं। यह एक कठिन रचना होती है और इसमें

अधिक अभ्यास की जरूरत होती है। श्रृंगार और विरह के भावों को समुचित रूप से प्रकट करने हेतु इसे उन्हीं रागों में गाया जाता है जिनमें तुमरी गायी जाती है; जैसे- तिलंग, खमाज, भैरवी, झिंझोटी, काफी, सिंदूरा, देश इत्यादि रागों में।

2. ताल की विशिष्टता - पंजाबी, पश्तो जैसे तालों द्वारा इनमें भाव के रंग भरे जाते हैं। इसमें लिए जाने वाले उर्जावान तान और असमान लयबद्ध लहजे टप्पा गायन शैली को शास्त्रीय गायन शैली का रूप देता है लोक शैली से ऊपर उठाकर ।

4. स्वरों का माधुर्य - टप्पों को एकाएक प्रस्तुत करने हेतु नियमानुसार पहले आलाप को तुमरी अंग में गाया जाता है उसके पश्चात् तेजी से लयबद्ध लहजे में बुने शब्दों के उपयोग से तानायत की ओर बढ़ा जाता है। इस शैली की गायकी में तकनीक दिखाने हेतु ज़मज़मा, गीतकारी, खटका, मुर्की व हरकत जैसे कई अलंकार प्रयोग किए जाते हैं।

3. तान की अनोखी शैली - टप्पा गायन शैली में ठेठ 'टप्पे के तान' प्रयोग में लाये जाते हैं, पंजाबी ताल जिसे 'टप्पे का ठेका' भी कहा जाता है, में ताल के प्रत्येक चक्र में तान के खिंचाव और रिहाई का प्रयोग आवश्यक होता है।

उदाहरणस्वरूप एक टप्पा को लेते हैं :

कला शाह कला

कला शाह कला मेरा कला हे सरदार

गोरें नूँ दफा करो

मैं आप टीले दी तार

कला शाह कला

सास सरिय तेरे पुँज पूटेर

दो इल्बी दो शराबी

सास सरिय तेरे पुँज पूटेर

दो इल्बी दो शराबी

जेरा मेरे हन दा

ओह खिलया फूल गुलाबी

कला शाह कला

दादरा

दादरा गायन शैली की तुमरी की तरह ही उपशास्त्रीय संगीत में गणना होती है। वस्तुतः तुमरी और दादरा का संबंध इतना करीब का है कि तुमरी का नाम लेते ही दादरा का स्वरूप सामने आ जाता है। तुमरी जब गति में आ जाती है तब दादरा का स्वरूप समक्ष आ जाता है। यह प्रायः तुमरी गायन वाले रागों में ही यथा पहाड़ी, भैरवी, खमाज, तिलक कामोद, झिंझोटी, जोगिया, देश, माँड आदि रागों में गाया जाता है। इसे पूरब अंग की तुमरी का हल्का संस्करण भी कहा जाता है। इसमें प्रमुख भाव श्रृंगार का होता है किंतु इसमें तुमरी की अपेक्षा अधि क उन्मुक्तता होती है।

भाव-संप्रेषण की तकनीक

तुमरी अंग से गाया जाने वाला दादरा तुमरी के समान ही भावुकता में डूबा हुआ होता है। यह क्योंकि दादरा, कहरवा, इत्यादि तालों में गाया जाता है अतः छः या आठ मात्राओं के ताल में बोल-बनाव करना कठिन होता है किंतु कुशल कलाकार इस छोटी परिधि में भी भावपूर्ण स्वर-संगतियों और मुर्का एवं खटके के प्रयोग से रसमय वातावरण की सृष्टि करते हैं। तुमरी की भाँति ही दादरा गायन में भी राग की शुद्धता पर विशेष ध्यान न देकर रंजकता पर ही ध्यान केंद्रित कर भाव-संप्रेषित किया जाता है।

राग खमाज ताल दादरा में निबद्ध एक दादरा :

स्थायी

हाँ पिया जाओ जाओ मोसे ना बोलो सौतन के संग रहो

अंतरा

भोर भए घर आए हो मेरे करत ढंग नए

सैयाँ जाओ जाओ मोसे ना बोलो सौतन के संग रहो

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय उपशास्त्रीय संगीत में

उपरोक्त वर्णित शैलियों के अलावा भी कई ऐसी गायन शैलियाँ हैं जैसे- चैती, घाटो, कजरी, होली इत्यादि जिनकी अपनी-अपनी गायन विधा और विविध तकनीक हैं उसे प्रस्तुत करने के, भाव-संप्रेषण के।

अतः यह कहा जा सकता है कि उपशास्त्रीय संगीत को जिनका आधार तो लोक-संगीत है परंतु यदि इनमें शास्त्रीय संगीत की विशिष्ट 'तकनीकों' को भी सम्मिलित कर लिया जाता है तो इनका अनूठापन और माधुर्य हृदय को आंदोलित कर झूमने पर विवश कर ही देता है।

संदर्भ :

1. लीला कारवाल- तुमरी परिचय
2. शांति जैन-अभिव्यक्ति शोध पत्र
3. पल्लवी श्रीवास्तव- शोध पत्र
4. सांस्कृतिक शोध एवं प्रशिक्षण केंद्र (website)
5. Bharat Discoery.org(website)
6. Aawaz -hindyugm.com(online magazine)



संगीत के शास्त्रीय पक्ष की सार्थकता

कुमारी अभिलाषा

कला और शास्त्र में पहले कला आती है, उसके उपरांत शास्त्र का जन्म होता है। कलाएँ स्वतंत्र होती हैं, वे भाव-तरंगों की सुंदरतम अभिव्यक्ति हैं। वे मनुष्य के बनाए नियमों के हिसाब से आकार नहीं लेतीं। उनका शास्त्र स्वयं प्रकृति रचती है। मनुष्य केवल उस शास्त्र का अवलोकन मात्र कर सकता है। यही कारण है कि किसी भी कला का शास्त्र रचने में सदियों लग जाते हैं। इसके बावजूद कलावंतों अथवा शास्त्रकारों में आत्मविश्वास की कमी बनी रहती है। वे अपने रचे हुए शास्त्र को मुकम्मल कहने की हिम्मत नहीं करते हैं। वे कभी इस बात से इंकार नहीं करते कि उनका कहे हुए सत्य के अतिरिक्त कोई अन्य सत्य नहीं हो सकता। इसके विपरीत उन्हें इस बात की आशा रहती है कि भविष्य में उनसे भी ज्यादा सटीक और बारीक सिद्धांत वजूद में आएंगे और उन्होंने जिस स्तर तक शास्त्र को पहुँचाया है, आने वाली पीढ़ी उससे आगे लेकर जाएगी।

कहने का आशय यह है कि किसी भी कला का शास्त्र अंतिम नहीं होता, उसमें परिवर्तन की गुंजाइश सदा बनी रहती है। यदि परिवर्तन संभव नहीं हो पाता तो समझना चाहिए कि उस शास्त्र द्वारा पोषित कला मरने वाली है। भारतीय संगीतशास्त्र की स्थिति यही है। सदियों से भारतीय संगीतशास्त्र भरत और भातखंडे के दायरे का अतिक्रमण नहीं कर सका है। यह स्थिति खतरनाक है। वर्तमान समय की विडंबना ये है कि प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन कला की बारीकियों को समझने के लिए नहीं किया जा रहा, बल्कि आंख मूंदकर उसके

पालन पर जोर दिया जाता है। कलावंत उसमें परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक संगीत और शास्त्रीय संगीत एक दूसरे से दूर जाकर खड़े हो गए हैं। वर्तमान समय में जो गायन-वादन प्रचलित है, उस संदर्भ में संगीतशास्त्र की क्या प्रासंगिकता है इस विषय पर विचार करने की परिपाटी लगभग समाप्त हो चुकी है। महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय के विद्यार्थी इस स्थिति से ज्यादा परेशान हैं। समझदारी और उचित मार्गदर्शन के अभाव में वे शास्त्र को आत्मसात नहीं करते, स्मृतिपटल पर उतार लेते हैं। इस तरह स्मृति आधारित संगीतशास्त्र उनकी संगीत साधना को सदैव के लिए अपूर्ण बना देता है। साधक की संगीत साधना में रचनात्मकता का आविर्भाव नहीं हो पाता। यही कारण है कि विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों में संगीत की बड़ी प्रतिभाएँ सृजित नहीं हो पा रही हैं। जो लोग भरत के नाट्यशास्त्र और भातखंडे जी की गहराई से समझते हैं वे कभी भी शास्त्रीय संगीत और व्यावहारिक संगीत को दूर नहीं होने देंगे। परंतु विडंबना ये है कि यह दुर्घटना व्यापक स्तर पर घट रही है। वर्तमान समय के हिसाब से यह ठीक नहीं है। आज समय की यही मांग है कि भारत के तमाम संगीतज्ञ इस बात पर विचार करें कि शास्त्र और कला को निकट कैसे लाया जाए, निरर्थक शास्त्र के बोझ को कैसे किनारे किया जाय और उसकी जगह नवीन चीजों को शामिल कर समय की जरूरत को कैसे पूरा किया जाय। क्योंकि आज संगीत केवल मनोरंजन का साधन भर नहीं है, बल्कि वह उससे बहुत आगे की चीज है। संगीत पर अनेक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी आ गई है। उसे अपनी उपयोगिता नए सिरे साबित करनी है। उसे मनुष्य के अतिरिक्त पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, समाज और मानसिक स्वास्थ्य आदि तमाम चीजों को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले आना है। इस जिम्मेदारी का वह तभी निर्वहन कर सकता है जब व्यावहारिकता को अद्यतन शास्त्र का अनुशासन प्राप्त हो।

पिछड़ा हुआ संगीतशास्त्र वर्तमान संगीत को अनुशासित करने में अक्षम है। भोजपुरी और हिंदी फिल्मी गीतों की दुर्गति देखी जा सकती

है। अस्सी के दशक में भोजपुरी गीतों में जो मिठास, करुणा और जीवन की जो सच्चाई तरंगायित होती थी, उसकी तुलना में आज का भोजपुरी संगीत कहाँ खड़ा है? करोड़ों की लागत से बनने वाले हिंदी गानों के एल्बम की उम्र कितनी है? दूसरी तरफ शास्त्रीय संगीत के नाम पर जो बंदिशें सालों से सिखाए जा रहे हैं, उनके श्रोता कितने हैं? ये तमाम प्रश्न कुछ सोचने के लिए दिशा संकेत कर रहे हैं।

शास्त्रीय संगीत अनुशासित संगीत का उदाहरण है। इसे लोकसंगीत और आभिजात्य संगीत का विभाजक भी कह सकते हैं जिसे प्राचीन शास्त्रों से बल मिलता आ रहा है। उन शास्त्रों में 'नाट्यशास्त्र' प्रमुख है। इस ग्रंथ में संगीत संबंधी नियम व विधि-विधान का उल्लेख किया गया है। इसका प्रभाव परवर्ती ग्रंथकारों पर सर्वाधिक हुआ। प्रायः सभी ग्रंथकारों ने नाट्यशास्त्र, बृहद्देशी, संगीत रत्नाकर आदि ग्रंथों के मत का अनुसरण करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। भारत की शास्त्रीय परंपरा की एक विशेषता या कमजोरी यह रही है कि कला से संबंधित तमाम बातों को वेद, आगम, ऋषि-कथन से जोड़कर कहने की प्रवृत्ति उसमें आरंभ से है। ऐसा करते हुए ग्रंथकार गौरव महसूस करते आए हैं। अपनी अतीत की उपलब्धियों पर गर्व करना अच्छी बात है किंतु उसी को अंतिम सत्य मानकर अपनी चिंतन क्षमता को कुंद कर देना कैसा विवेक है? इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय प्राचीन ग्रंथकारों ने प्रत्यक्ष और स्वानुभव को अपनी चिंतन पद्धति का आधार बनाया। परिणामस्वरूप उनके मतों में प्रामाणिकता रही। इसके बावजूद यह भी विचारणीय है कि उनका चिंतन उनके युग की कला उपलब्धियों व समस्याओं पर आधारित है। इसलिए प्राचीन व प्रामाणिक होते हुए भी उसकी कुछ सीमाएँ हैं। उन सीमाओं पर विचार करते हुए अपने युग की आवश्यकता के अनुरूप चिंतन-मनन कर शास्त्र रचना जीवंत समाज की पहचान है। परंतु भारतीय संदर्भ में यह कम देखने को मिलता है। इस कारण भारतीय संगीतशास्त्र की विकास परंपरा में नए अध्याय बहुत कम जुड़े; और जो जुड़े भी उसकी सार्थकता समय के प्रवाह में मलिन हो गई। अब उसके स्थान पर नए मत व चिंतन

की आवश्यकता महसूस होती है, पर इस क्षेत्र में काम करने के लिए सुधि जनों का मानो अकाल ही पड़ चुका है।

पाश्चात्य देशों में अतीत से प्राप्त शास्त्रीय उपलब्धियों पर विचार-विमर्श करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वे लोग वर्तमान समय की कला समस्याओं पर विचार करते हुए अतीत की उपलब्धियों को ध्यान में रखते हैं, उससे प्रेरणा लेते हैं परंतु किसी अतिरिक्त मोह का शिकार नहीं होते। परिणामतः वे अपनी शास्त्रीय चिंतन परंपरा में सदैव ताजगी महसूस करते हैं। आँख मूँदकर परंपरा का अनुसरण करना उनकी प्रवृत्ति नहीं है। दूसरी तरफ हमारे संगीत जगत में 'शास्त्रीयता' का एक सामान्य अर्थ है "एक ऐसा संगीत, जिसमें शास्त्रीय विधि-निषेधों का आँख मूँदकर प्रयोग करना, भले ही वह हमारे अंतःकरण को स्पर्श करने वाला हो या नहीं।" जबकि आज इस शब्द की एक नई व्याख्या, सांगीतिक दृष्टि से अपेक्षित है।

वस्तुतः संगीत की सीमारेखा 'लोकरंजन' से आरंभ होकर 'लोकरंजन' पर ही समाप्त हो जाती है। संगीत के संदर्भ में शास्त्रीयता का अपेक्षित अर्थ सिर्फ इतना होना चाहिए कि "ऐसा संगीत, जो शास्त्र द्वारा अनुप्राणित हो किंतु लोकरंजन में पूर्णतया सक्षम हो। यदि शास्त्रीयता के आग्रह में संगीत के लोकरंजन गुण की अवहेलना होती है तो इसे संगीत के विकास में बाधक मानना चाहिए।"

ध्यातव्य है कि हमारे समक्ष जो शास्त्र है, उसकी रचना अत्यंत प्राचीन काल में हुई है। नाट्यशास्त्र तो चौथी-पांचवीं शताब्दी की रचना है। इसकी प्राचीनता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि गुणीजनों ने इसे पंचम वेद कहा है। जाहिर है नाट्यशास्त्र इतिहास की वस्तु मात्र है। जिसकी रचना हुए शताब्दियाँ बीत गई हों, वह इतिहास की वस्तु ही सकती है। वर्तमान में उसकी वही उपयोगिता होनी चाहिए, जितना किसी भी ऐतिहासिक सिद्धांत या मत का होता है।

आज शास्त्रीय संगीत को नए संदर्भ में देखने की जरूरत है। दो-तीन सौ वर्ष पहले शास्त्रीय संगीत की रूपरेखा कैसी थी, आज के लिए वह केवल अनुमान का विषय है। लिपिबद्ध न होने के कारण

उसके मूल रूप तक पहुँचना संभव भी नहीं है। ऐसी स्थिति में उस युग के संगीत को केवल श्रुति के माध्यम से अथवा पारंपरिक घरानों के माध्यम से जो हम तक पहुँचा है उसी से संतुष्ट होना पड़ता है। वास्तविक चीज तो हमारे पास है नहीं। हमारा ज्ञान श्रुतियों, किंवदंतियों और लोक में बिखरे ज्ञान पर आधारित है, जिसकी वैज्ञानिकता व प्रामाणिकता संदिग्ध है। उदाहरण के तौर पर 'तानसेन' की महानता के विषय में हमें खूब बताया जाता है, कहानियाँ सुनायी जाती हैं लेकिन उनके संगीत को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करने का हमारे पास क्या साधन है?

समय के प्रवाह ने भारतीय संगीत के मूल को बहुत हद तक बदल दिया है। स्वरों में काफी कुछ बदलाव आ चुका है। प्राचीन ग्राम-मूर्च्छना पद्धति और आधुनिक थाट-राग को ही देख लीजिए। तुलना करने से स्पष्ट हो जाएगा कि प्राचीन और आधुनिक स्वरों में कितनी भिन्नता आ गई है। आधुनिक काफी थाट को श्रुति स्वर स्थापना के हिसाब से उस समय का शुद्ध थाट माना जाता था। यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि उस समय श्रुति स्वर व्यवस्था तथा सात स्वरों का स्थान आधुनिक स्वरों से अलग थी। दक्षिणी और उत्तरी स्वरों के स्थान में भिन्नता से भी यही प्रमाणित होता है कि शास्त्रीयता कोई जड़ वस्तु नहीं है कि उसकी स्थिति में परिवर्तन हो ही नहीं। "उत्तर भारत में जिन्हें स रे ग म प ध नी कहते हैं, दक्षिण में उन्हें स रे रे म प ध् ध माना जाता है।" विद्वानों का मानना है कि "उत्तरी भारत का संगीत दक्षिण भारत के संगीत से इसलिए भिन्न हुआ क्योंकि उत्तर भारत में विदेशी आक्रमण भौगोलिक स्थिति के कारण अधिक हुए, जबकि दक्षिण में ये विदेशी आक्रमणकारी अधिक नहीं पहुँच सके। यही कारण है कि उत्तर भारत के संगीत, संस्कृति और रहन सहन पर विदेशी संस्कृति की छाप स्पष्टतया देखी जा सकती है।" इस दृष्टांत को प्रस्तुत करने के पीछे उद्देश्य सिर्फ इतना है कि जब एक ही देश में, एक ही समय में संगीत की दो भिन्न धाराएँ मौजूद हैं तो आधुनिक संगीत को प्राचीन एवं मध्यकालीन संगीतशास्त्र के दायरे में

कसकर बाँधे रखने की सार्थकता कितनी है? मैं यह नहीं कहती कि आप प्राचीन शास्त्रों की उपेक्षा करें, उसे एक सिरे से खारिज कर दें। प्राचीन ग्रंथों से परिचित होना अपनी परंपरा एवं परिवर्तन की गति से परिचित होना है। इसलिए इसका संरक्षण और अध्ययन आवश्यक है, परंतु उसे आंख मूंदकर आधुनिक संगीत पर थोप देना असंगत प्रतीत होता है। प्राचीन ग्रंथों के उपयोग में हमें अपने विवेक का परिचय देना चाहिए कि उसमें से कितना लें और कब लें।

परिवर्तन विकास की शर्त है। परिवर्तन के बगैर महान उपलब्धियाँ भी सड़ जाती हैं। संगीतशास्त्र में परिवर्तनों को स्वीकार करने का यह उचित समय है। 'गौड़सारंग' राग को सर्वसम्मति से 'गौड़ कल्याण' कहने क्या बुराई है? हम ऐसा शास्त्र रचने से कतराते क्यों हैं जो संगीत के क्रियात्मक पक्ष को सबल बनाने में सहायक हो। हमें अपनी जिम्मेदारी से भागना नहीं चाहिए। हमें नवीन प्रयोगों का स्वागत करना चाहिए और जो निरर्थक व संदर्भहीन है उसका परित्याग करना चाहिए। आधुनिक संगीत से संबंधित विषयों पर मिलजुलकर विचार करना चाहिए और यथासंभव विवादित मुद्दों को सुलझाने का प्रयास करना चाहिए।

Works Cited:

1. www.indianjournals.com
2. के. वासुदेव शास्त्री, संगीत शास्त्री
3. मुकेश गर्ग, निबंध संगीत।



स्वर साधना : स्वरूप और महत्व

सोनाली बनर्जी

गायन को स्वर अंगों और वाणी अंगों के माध्यम से भावनाओं की संगीतमय अभिव्यक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। ग्रीक दर्शन में गायन को बोलने का पहला रूप माना जाता है।

बोलने और गाने में एक ही बाद्ययंत्र यानी स्वर का प्रयोग किया जाता है। गायन के लिए आवाज उत्पादन की तकनीक जटिल है। गायन के लिए तीन माँसपेशियों के अधिक नाजुक नियंत्रण की आवश्यकता होती है; जैसे- प्रेरणा और समाप्ति, (स्वर को श्वसन माँसपेशियाँ) अंत और आंतरिक (अतिरिक्त स्वरयंत्र की माँसपेशियाँ) और Articulation (जीभ, जबड़े, होंठ और नरम तालू का माँसपेशियाँ)।

तीन सेटों द्वारा लेरिन्जियल माँसपेशियाँ के वोकल कॉर्ड को नियंत्रित किया जाता है जो इस प्रकार हैं- क्रिको थायराइड, थायरो एरीटेनाइड और क्रिको एरोटेनाइड।

वोकल कॉर्ड्स या फोल्डर्स एक शार्प मार्जिन वाले दो माँस से भरा हुआ ओष्ठाकार अंग है, इन्हें टू वोकल कॉर्ड्स के नाम से जाना जाता है। टू वोकल कॉर्ड्स फाल्स वोकल कॉर्ड्स के नीचे स्थित होते हैं। फाल्स वोकल कॉर्ड्स लैरिक्स के अग्रिम सतह पर स्थित होता है जिन्हें वेंद्रिकुलर बैंडस या फोल्डस का नाम दिया गया है जो एक गोलाकार मार्जिन के साथ पाया जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक प्राकृतिक पिच होती है। प्राकृतिक पिच का स्तर व्यक्ति के स्वरतंत्र की भौतिक विशेषताओं पर निर्भर करती है जिस पर कोई भी व्यक्ति बहुत ही आसानी से सर्वोत्तम

गुणवत्ता का नोट तैयार कर सकता है। इस पिच स्तर पर स्वरतंत्र बड़ी दक्षता से काम करती है। चूँकि वोकल कॉर्ड अपने तनाव, द्रव्यमान और लम्बाई को अलग-अलग करने में सक्षम है, इसलिए पिच में बदलाव संभव हो जाता है। तनाव के साथ आवाज की पिच बदलती रहती है और वोकल कॉर्ड के द्रव्यमान और लम्बाई के विपरीत होती है। प्राकृतिक पिच स्तर पर वोकल कॉर्ड लगभग शिथिल स्थिति में होते हैं जबकि उच्च पिच पर वे कठोर हो जाते हैं।

महिलाओं की तुलना में पुरुषों में वोकल कॉर्ड अधिक मोटे होते हैं जो वोकल कॉर्ड की लंबाई और द्रव्यमान में अन्तर के कारण होता है। पुरुषों के लिए वोकल कॉर्ड की लंबाई 7/8 इंच से 11/2 इंच होती है तथा महिलाओं के लिए 1/2 इंच से 7/8 इंच तक होती है।

आवाज में तीन तत्व पाये जाते हैं जो इस प्रकार हैं- एकचुएटर, वाइब्रेटर और रेजोनेटर।

एकचुएटर शक्ति का स्रोत है। वाइब्रेटर एकचुएटर द्वारा ऊर्जा की आपूर्ति को संपीड़न और रेयरफैक्शन तरंगों को एक श्रृंखला में परिवर्तित करता है जबकि रेजोनेटर वाइब्रेटर के ध्वनि आउटपुट को संशोधित करता है तथा उनके गुंजने वाले गुणों द्वारा टोन को समृद्ध करता है।

मानव आवाज में फेफड़े एक स्थिर वायु धारा की आपूर्ति करता है तथा वोकल कॉर्ड स्थिर वायु धारा को स्पंदित वायु धारा में परिवर्तित करता है, जबकि गले, मुँहे और नाम की गुहाएँ अपने गुंजयमान गुणों द्वारा ध्वनि तरंग को सापेक्ष हार्मोनिक सामग्री को संशोधित करती है।

कम्पन की आवृत्ति कम्पन प्रणाली के सभी तत्वों पर निर्भर करता है। एक स्वर में तीन सामान्य गुण होते हैं- पिच तीव्रता और समय। पिच एक नोट की आवृत्ति को इंगित करती है और कम्पन की आवृत्ति से भिन्न होती है। आवृत्ति सोनोरस बॉडी द्वारा किये गए प्रति सेकेंड कम्पन की संख्या और संचारण माध्यम से होने वाले प्रति सेकेंड ऑक्सीलेशन की संख्या को इंगित करती है।

आवाज से उत्पन्न स्वर की मौलिक पिच स्वर से प्रति सेकेण्ड गुजरने वाली वायु तरंगों के कशों की संख्या पर निर्भर करती है। वार्तालाप और गीत का कार्य न्यूरोलॉजिकल रूप से मनुष्य में, मस्तिष्क के विकास से जुड़ा हुआ है, इसलिए मस्तिष्क गायन का प्रमुख है। जिनके पास उचित मस्तिष्क संगठन का अभाव है, उन्हें सही स्वर उत्पन्न करने में कठिनाई होती है।

प्रोफेसर मैकजा¹ को स्वर प्रशिक्षण का महान शिक्षक माना जाता है। गायन में पंद्रह अवयव पाए जाते हैं जिसमें प्रथम बारह गाने तथा बोलने दोनों में प्रभावी होते हैं लेकिन अंतिम तीन सिर्फ गायन में प्रभावी होते हैं। पंद्रह अवयव इस प्रकार हैं-

1. साँस- गाने और बोलने में साँस पर प्रभावशाली नियंत्रण बहुत जरूरी है, हालांकि गायन के लिए बहुत ही नाजुक नियंत्रण की आवश्यकता होती है।
2. लचीलापन- शब्दों का उच्चारण करने और विभिन्न संगीत वाक्यांशों का उत्पादन करने के लिए स्वर तंत्र और वागेन्द्रियों में लचीलापन होना चाहिए।
3. अनुनाद- श्रव्यता और अच्छी गुणवत्ता दोनों के लिए बोलना तथा गाना दोनों आवश्यक है जो सिर्फ अनुनादकों के समायोजन तथा उचित तरीके से प्राप्त किया जा सकता है।
4. मुँह का आकार- चूँकि अनुनादक आवाज की गुणवत्ता को प्रभावित करती है, इसलिए मुँह का आकार स्वर की गुणवत्ता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
5. स्वर सीमा- वाणी की अपेक्षा वाणी की सीमा अधिक सीमित होती है गायन के लिए हालांकि बोलने के लिए एकरसता से बचने के लिए स्वर सीमा की आवश्यकता होती है।
6. विभक्ति- गाने और बोलने के लिए स्वर विभक्ति अलग-अलग होती है। बाद में विभक्तियाँ अधिक विस्तृत और औपचारिक हो जाती है।

7. उच्चारण- प्रभावशाली बोलने और गाने के लिए स्पष्ट उच्चारण अत्यंत आवश्यक है।
8. वाक्यांश- बोलने के लिए वाक्य को बोधगम्य और प्रभावशील बनाने के लिए सही वाक्यांश लेखन की आवश्यकता होती है जबकि गायन में सावधानीपूर्वक किया गया वाक्यांश, गायकों के संगीत में सुंदरता प्रदान करता है।
9. गति- गति बोलने और गाने में स्वर की गुणवत्ता को प्रभावित करती है। बोलने में कम गति से बात अधिक सुस्त हो जाती है जबकि अधिक गति से बातों में स्पष्टता की कमी हो जाती है। अतः वाणी के लिए मध्यम गति की आवश्यकता होती है। गायन में धीमी गति से ध्वनि की मात्रा बढ़ जाती है जबकि उच्च गति से ध्वनि की मात्रा कम हो जाती है। मध्यम गति में आवाज की गुणवत्ता अधिक सुखद होती है।
10. वॉल्यूम- बोलने और गाने दोनों में वॉल्यूम एक महत्वपूर्ण कारक है। दूर उपस्थित दर्शक वर्ग तक पर्याप्त आवाज पहुँचाने के लिए वॉल्यूम एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।
11. श्रवण- बोलने और गाने के लिए स्वर उत्पन्न करने में श्रवण महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। श्रवण स्वर की पिच की तीव्रता और समय को नियंत्रित करने में मदद करती है। यह एक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करती है।
12. कल्पना- मानसिक धारणा या कल्पना स्वर तंत्र के समायोजन के लिए मस्तिष्क को जागृत करती है। किसी व्यक्ति के लिए, किसी शब्द या स्वर का उच्चारण करने के लिए शब्दों या स्वरों की मानसिक धारणा बहुत आवश्यक होती है।
13. स्वर ध्वनियों का दीर्घीकरण
14. निश्चित पिच संबंध तथा
15. गतिशीलता

गायन की तीन अतिरिक्त विशेषताएँ हैं जो संगीत तत्व प्रदान करती हैं। स्वर साधना में Anaomy, Physics, Psychology, Yoga और

डनेपब शामिल है।² ईश्वर की असीम कृपा है कि हमारे जन्म के साथ ही साँस प्रक्रिया शुरू हो जाती है अर्थात् हम कह सकते हैं कि साँस प्रारम्भ होने के साथ ही स्वरोदय का ज्ञान मिल जाता है। स्वर साधना से ही हमारे ऋषि-मुनियों ने अपने अनुभव से भूत, भविष्य तथा वर्तमान को जाना है।

मनुष्य की नासिका में दो छिद्र होते हैं³ दाहिना और बाँया। दोनों छिद्रों में से केवल एक छिद्र से ही वायु का प्रवेश होता है और दूसरा छिद्र स्वतः बन्द रहता है अर्थात् एक छिद्र चलित रहता है तथा दूसरा बन्द हो जाता है। इस प्रकार वायु वेग के संचार की श्वास-प्रश्वास क्रिया को ही स्वर कहते हैं। जब दाहिने नासिका से श्वास लेते हैं तब मस्तिष्क का बायाँ भाग सक्रिय हो जाता है। उसी प्रकार जब बायीं नासिका से श्वास लेते हैं तब मस्तिष्क का दाहिना भाग सक्रिय हो जाता है। उसी प्रकार जब बायीं नासिका से श्वास लेते हैं तब मस्तिष्क का दाहिना भाग सक्रिय हो जाता है। यही कारण है कि प्रणायाम किया जाता है। प्रणायाम का मुख्य उद्देश्य का लयबंध तथा संचय होना है।

नासिका के दाहिने छिद्र को दाहिना स्वर या सूर्य स्वर या पिंगला नाड़ी कहते हैं तथा बायें छिद्र को बायाँ स्वर या चन्द्र स्वर या इड़ा नाड़ी कहते हैं। दोनों स्वर चलना यानी सुषम्ना स्वर साक्षात काल स्वरूप है। इसमें ध्यान, धारणा, समाधि, प्रभुस्मरण और कीर्तन श्रेष्ठ है।

जो स्वर चलाना होता है उसके विपरीत करवट बदलकर उसी हाथ का तकिया बनाकर लेट जाना चाहिए। थोड़ी देर में स्वर बदल जाता है अर्थात् यदि सूर्य स्वर चल रहा है और चन्द्र स्वर चलाना है तो दाहिने करवट लेट जाना चाहिए।

अनुलोम-विलोम, नाड़ी शोधन, प्रणायाम आदि से भी स्वर परिवर्तन हो जाता है। स्वर परिवर्तन में मुँह बंद रखना चाहिए। नासिका में स्वर साधना करना चाहिए। नियमित रूप से प्रणायाम करना चाहिए जिससे सही स्वर चलते हैं जिससे व्यक्ति स्वस्थ रहते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार अभ्यास के द्वारा किसी भी व्यक्ति

के कंठ के विकारों को सही कर गाने योग्य कंठ बनाये जाने की क्रिया को स्वर साधना कहा जाता है। इसे अंग्रेजी में Voice Training पद्धति द्वारा स्वर को संचालित किया जाता है। भारतीय संगीत में इस तरह का कोई भी पद्धति विकसित नहीं हुई है, सिर्फ इसकी परिकल्पना हुई है। यहाँ के हर गुरु अपने शिष्यों के कंठ के गुण-दोष को देखते हुए स्वर साधना कराते हैं। कुमार गंधर्व के गुरु प्रोफेसर B.R. Deodhar⁴ प्रथम विदेशों में जाकर स्वर साधना का अध्ययन किया तथा उसके बाद मराठी में उन्होंने 'कंठ संवर्धन' पर एक पुस्तक लिखी जिसमें स्वर साधना की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

भारतीय संगीत में स्वर साधना मुख्य रूप से ब्रह्ममुहूर्त में खरज साधना के अभ्यास से ही जाती है। खरज की साधना करते समय मनुष्य को सीधा बैठकर एक हाथ से तानपुरा छेड़ते हुए स्वर लगाना चाहिए। सर्वप्रथम षड्ज को सही ढंग से उच्चारित करते हुए स्वरों पर ठहराव किया जाता है। स्वरों के लगाव में कम्पन नहीं होनी चाहिए। षड्ज के बाद मन्द्र सप्तक में जहाँ तक आराम से आवाज जा सके, यह ध्यान में रखकर अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास में प्रत्येक स्वर को निरंतर एक साँस में गाया जाता है और यह प्रक्रिया बार-बार की जाती है। अभ्यास का समय धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है। मन्द्र सप्तक में आवाज खुलने के बाद फिर धीरे-धीरे मध्य तथा तार सप्तकों के स्वरों का भी अभ्यास किया जाता है। उसके बाद अलंकार तथा पलटाओं का भी रियाज किया जाता है। इसके बाद भारतीय संगत के दस थाटों में भी यह प्रक्रिया की जाती है, जिससे बारह स्वरों का उच्चारण सही ढंग से गले में हो जाता है।

इस स्वर साधना के माध्यम से कंठ पूर्णरूप से सांगीतिक स्वरों की प्रस्तुति करने योग्य बन जाती है। इस अभ्यास को कुशल गुरु के निर्देश में करना चाहिए। स्वर साधना में साँस का महत्व बहुत जरूरी होता है। गाते समय उचित स्थान पर साँस लेना चाहिए जिससे गायन में रंजकता आती है और ताल कटने का डर भी नहीं रहता है। स्वर साधना के माध्यम से स्वर को ज्यादा से ज्यादा लम्बा करने की क्षमता

प्राप्त की जा सकती है। स्वर साधना प्रतिदिन करनी चाहिए। स्वर को सुरीला बनाने तथा स्वर में मधुरता लाने के लिए स्वर साधना अत्यंत ही आवश्यक है।

कहा जाता है कि वैदिक काल में जब छोटे बच्चों को वेद-पाठ की शिक्षा दी जाती थी तब उसी के माध्यम से बच्चों का स्वर साधना हो जाता था। भारतीय कंठ संवर्द्धक का मूल ओम्कार में उपस्थित है जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्राण है।

भारत के विभिन्न संगीत के घरानों में भी कंठ संवर्धन अपने-अपने तरीके से की जाती है जिसे अपनाकर कंठ को तैयार किया जाता है। जैसे- किराना घराना में कृत्रिम आवाज लगाने का ज्यादा प्रचलन है, जयपुर घराने में लयकारी की प्रधानता दी जाती है, आगरा घराने में दमदार आवाज पर ज्यादा जोर दिया जाता है, क्योंकि इस घराने में ध्रुपद-घमार का प्रचार अधिक होता है तथा ग्वालियर घराने में षड्ज साधना का महत्व ज्यादा है। इस प्रकार प्रत्येक घराने से स्वर साधना की विभिन्न पद्धतियाँ विकसित हुईं।

पटियाला घराने की गायिका 'बेगम परवीन सुलताना' जी के अनुसार ब्रह्म मुहूर्त में खरज साधना से Voice Culture होती है।

आगरा घराने का सुप्रसिद्ध गायक 'प्रोफेसर कशीश मित्तल'⁵ जी के अनुसार गुरु शिष्य परम्परा के अंतर्गत शिक्षा होनी चाहिए, गुरु का सही चयन होना चाहिए तथा अपने आप को समर्पित कर देना चाहिए, शारीरिक तौर पे भी स्वस्थ होना चाहिए, बाहर का खाना नहीं खाना चाहिए, ज्यादा ठंडा कुछ नहीं खाना व पीना चाहिए आवाज natural होनी चाहिए तथा खुली आवाज में गाने का अभ्यास होनी चाहिए, उनके अनुसार सभी Vowel से रियाज करना चाहिए, नाम-तोम का आलाप करना चाहिए, उच्चारण का अभ्यास भी होना चाहिए तथा स्केल भी सही होना चाहिए।

ग्वालियर घराने के 'पंडित शशांक मकतेदार'⁶ जी के अनुसार, अलंकार का अभ्यास आकार में होना चाहिए, अलंकार अलग-अलग स्केल में अभ्यास करना चाहिए, अलंकार का अभ्यास भिन्न-भिन्न

लयों में होनी चाहिए जिससे स्वरों में स्थिरता आती है। उनके अनुसार आवाज भगवान की देन होती है जिसे Culture करना पड़ता है।

जयपुर घराने के "Pt. Raghunandan Panshikar"⁸ जी के अनुसार अलग-अलग व्याटों में अलंकार का अभ्यास होना चाहिए, एक-एक सुर का अभ्यास तानपुरे के साथ होना चाहिए, स्वर की पहचान होनी चाहिए, पूरी श्वास के साथ एक स्वर पे कम-से-कम 5 से 10 बार तक अभ्यास होना चाहिए, खरज का अभ्यास कम-से-कम पंचम तक होना चाहिए, खटका-मुर्की का रियाज होना चाहिए, गुरु के गले से जो निकलता है वहीं शिष्य के गले से भी निकलना चाहिए, कम-से-कम चारबार एक श्वाँस में तान का अभ्यास करना चाहिए।

अर्थात् निष्कर्ष यह निकलता है कि सबसे पहले स्वर को साधना चाहिए, फिर राग का आरोह, आलाप, तान तैयार करना चाहिए, फिर किसी भी राग के भावों को समझना चाहिए अर्थात् राग के भाव पक्ष को समझकर ही उस राग को प्रस्तुत करने में समर्थ रहेंगे।

संदर्भ :

1. Dr. Durga, S.A.K. - The Art of Voice cultivation, B.R. Rythms, Delhi, Edition- 2007, page no. 11.
2. Dr. Durga, S.A.K.- The Art of Voice cultivation, B.R. Rythms, Delhi, Edition - 2007. page no.-19.
3. डॉ. नीरा चौधरी के वार्तानुसार।
4. डॉ. अरविन्द कुमार के वार्तानुसार।
- 5, 6, 7, 8. Vyanjana Art and Culture Society, Prayagraj द्वारा आयोजित कार्यशाला जो दिनांक 25 जुलाई से 29 जुलाई 2020 को हुआ था, में विद्वानों के विचार।



ठुमरी : लोकतत्व एवं अंग

पल्लवी प्रिया

‘ठुमरी’ मूलतः कौशिकी वृत्ति के आश्रय से नृत्य और भावाभिनय सहित स्वर एवं शब्द के माध्यम से व्यक्त होने वाली स्त्रियोचित, सुकुमार, माधुर्य, लास्यमय, लालित्य एवं रसीली गान विधा है। इस विधा का मुख्य ध्येय शब्दों में निहित अर्थ, भाव, रस आदि को स्वर के माध्यम से स्पष्ट करना है। इसमें शास्त्रीय संगीत के समान राग-नियमों का कठोरता से पालन नहीं किया जाता, वरन् गायिकी को सौन्दर्यात्मक-भावात्मक बनाने के लिए समप्राकृतिक रागों के स्वर-समुदायों का सहारा लिया जाता है। इसमें कण, खटका, मुर्की, गिटकिरी, मींड़, जमजमा इत्यादि अलंकरणों का विशिष्ट रूप से प्रयोग किया जाता है, जिससे बंदिश के शब्दों का भाव साकार एवं सौन्दर्यात्मक-रसात्मक हो जाए।

इस गायिकी का उद्गम लोक-संगीत है, इस कारण इसमें सहज स्वाभाविकता, स्वच्छंदता, स्वच्छता एवं सरलता के भावों की अभिव्यक्ति हृदय से निकली हुई लय के साथ होती है तथा स्वर, लय, ताल सहज रूप से संचरण करते हैं। यह शिल्प प्रधान न होकर, भाव प्रधान गायिकी है। इसमें जीवन के समस्त भावनाएँ; यथा, सुख-दुःख, मिलन-विरह, उतार-चढ़ाव, स्नेह-करुणा, पुकार-छेड़छाड़, मनुहार-गुहार आदि व्यक्त होते हैं।

ठुमरी में लोकतत्त्व :

‘ठुमरी’ लोकधर्मी गायिकी है, जिसमें जीवन के समस्त ताना-बाना

के भाव मुखरित हैं। इसमें परंपराओं से चली आ रही उन भावों-विचारों और अनुभूतियों के प्रतीक हैं जो सामान्य जनमानस में युगों से गहरी जड़ें जमाए हुए हैं। परम्पराएँ लोक-जीवन में ही पनपती हैं इसलिए हर कला का आधार लोक जीवन ही है। कोई भी कला लोक के ही अलौकिक आलोक से आलोकित होती है, इसलिए यह गायिकी लोक से अधिक जुड़ा है। इस गायिकी के अवलोकन, अनुशीलन से निम्न लोकतत्वों के दर्शन होते हैं-

1. लोक स्वर: आम जन अपनी भावनाओं को सरल-तरल स्वरावली में व्यक्त करते हैं। यही स्वरावली लोकधुनों को जन्म देती है और परिष्कृत होकर 'राग' का स्वरूप धारण करती है। यही लोकात्मक राग इस गायिकी का आधार है। जैसे- गारा, झिंझोटी, खमाज, देश, पीलू, भैरवी, बरवा, जंगला, पहाड़ी, मांड, काफी इत्यादि। ये राग शास्त्रीय स्वरूप में प्रयुक्त न होकर मिश्र रूप में व्यवहृत होते हैं। अतः इस गायिकी में सहज रूप से लोक-स्वर का अनुगमन किया जाता है।

2. लोक लय : इस गायिकी की सहज प्रवाहमयता लोक-संगीत के निकट ले जाता है। जिस तरह से लोकसंगीत में भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक और हृदय से निकली हुई लय के साथ होती है, उसी तरह की लय इसमें भी दिखलाई पड़ती है। इसमें वही ताल प्रयुक्त हैं जो लोक-संगीत का प्रिय ताल है; यथा- दीपचंदी, कहड़वा, दादरा, जत, पंजाबी इत्यादि। अतः स्पष्ट है कि स्वाभाविक, स्वच्छंद, सरल लय और ताल इस गायिकी में लोक से ही प्राप्त हुई है।

3. लोक-भाषा : लोक भाषा का संबंध सीधा जनमानस और विशेषकर ग्राम संस्कृति से होता है। इस कारण इसकी प्रकृति सरल, स्वाभाविक और स्वच्छंद होती है। साथ में एक अलग प्रकार का माधुर्य भी। इसी माधुर्य की लक्ष्य पूर्ति हेतु इस गायिकी में लोकभाषा के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। इसकी बंदिशों में भाषा का स्वरूप शास्त्रीय भाषा के कठोर बंधनों से विमुक्त सरल और सहज होता है। कालांतर में जैसे-जैसे क्षेत्रों में इस विधा का प्रचार-प्रसार हुआ

इस कारण से उस क्षेत्रों का बोलियों का समावेश स्वतः इसके बंदिशों में होता गया। यह गायिकी ब्रजभाषा, अवधि, भोजपुरी, मगही, मैथिली, बज्जिका आदि में निबद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ -

ब्रजभाषा में -

“पिया पापी न जागै, जगाई हारी।
औरन संग पिया हसत-बुलत हैं,
हम से न बोले मनाई हारी।
इत बहे गंगा उत बसी कासी,
कोई चहकी चिरैयां बिरजवारी।”¹

भोजपुरी में -

“नाहक लाए गवनवाँ-गवनमाँ मोरा रे
कर सुख छैला बिदेसवा में छए
बीतत जात मोरा जोबनवाँ।”²

अवधी बोली में-

“मोरी अँखियाँ ने बैर किया
देखो मो से ‘कदर पिया’।
आप लरत और मन का फँसावत
इन्हीं कारन घायल होत जिया।”³

4. लोकभाव : इस गायिकी में सरल अनुभूति और भावों की गहराई है क्योंकि सामाजिक स्थिति के क्षण-क्षण के भाव इसमें मुखरित हैं। इसमें जीवन की विविध आयाम यथा-सुख-दुःख, मिलन-विरह, स्नेह-करुणा का भाव दिखलाई पड़ता है। इसमें साधारण नर-नारी से लेकर कृष्ण-राधा के श्रृंगारिक भाव चित्रित हुए हैं; यथा-

“छायी घटा घनघोर,
रैन अंधेरी पिया घर ना हीं, सुनी अटरिया मोरा।
दामिनी दमके अति डर लागे,
जियरा थर-थर काँपे मोरा।”⁴

“तुम राधे बनो श्याम,

सब देखेंगी बृजबाम।
मेरो कहा सैंया मानत नाहिं,
आस परयो है मुसकात।”⁵

इस प्रकार इसमें नायिकी का विरह और संयोग का चित्रण हुआ है। उलाहना, छेड़-छाड़ के साथ झूला झूलने, होरी खेलने आदि का भाव भी इसमें देखा जा सकता है जो इसके लोकात्मक भाव को उजागर करता है; यथा-

“ गहो न मोरी बैयाँ, छाँड़ दे सैंया,
करो न मोसे रार, बाट लरकईयाँ।
ललन पिआ तोसे अरज करत हैं,
बिनती करत मैं तो परू तोरे पैया।।”⁶
“ होरी खेलन कैसे जाऊँ गुइयाँ,
बाट चलत मग रोके कन्हैया।
बीच डगर मोसे करे बरजोरी,
और गहत मोरी बैया कन्हैया।।”⁷

5. लोक अलंकरण : इस गायिकी के प्रस्तुति में लोक-संगीत की सौन्दर्यात्मक तत्त्व खटका, मुर्की, पुकार आदि के समावेश इसका लोकात्मक चरित्र को स्पष्ट करता है। ये अलंकरण स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त होते हैं तथा कहीं भी चमत्कारिक रूप से नहीं विचरते।

6. सम्बोधनात्मक शब्द : सम्बोधनात्मक शब्दों का समावेश इसमें लोक से आया है। इसके बंदिशों में साहित्यिक व्याकरण का पालन नहीं होता, बल्कि सहज रूप में शब्दों का चयन किया जाता है। प्रस्तुतिकरण में री, अरी, सखी री, ऐ री आदि शब्दों का इस्तेमाल काव्य की सहज प्रवाहमय एवं सहज बोधगम्य बनाने के लिए किया जाता है।

“ पिया बिन नहिं आवत चैन,
का से कहूँ जी के बैन।
याद आबत जब ‘हैदर’, निशदिन,
बाँकी रे सूरत तीखे नैन।”⁸

उपर्युक्त तुमरी में 'कहन' करते समय अरे पिया, पिया रे तथा चैन रे या चैना शब्द का प्रयोग करके भावात्मक बनाया जाता है। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग लोकगीत में होता है। इसमें प्रयुक्त भाषा, राग, लय-ताल-भाव आदि लोक संगीत से ही विकसित होकर आया है जिसके कारण आमजन इसके भावों में अपनी छवि निहारते हैं।

तुमरी के अंग:

तुमरी का विकास शब्द-प्रधान गायिकी के रूप में हुआ है। इसलिए इसमें 'बोल बनाने' या 'कहन' की प्रधानता है। इस गायिकी की शैलीगत विकास में भी शब्द और स्वरों के साथ उसके बोल-विस्तार की प्रमुख भूमिका रही है। इसकी बंदिशों में निहित बोलों को गत्यात्मकता और भावाभिव्यंजनात्मकता की प्रधानता के आधार पर इसके दो अंग विकास हुआ है जिन्हें क्रमशः 'बोलबाँट अंग की तुमरी' और 'बोलबनाव अंग की तुमरी' कहते हैं। 'बोलबाँट की तुमरी' मुख्यतः गति प्रधान और 'बोलबनाव की तुमरी' भाव प्रधान है।

1. **बोलबाँट अंग की तुमरी** : इस अंग में लय या ताल के प्रस्तार के अनुसार शब्दों तथा स्वरों के संयोजन कर गायिकी को सौन्दर्यात्मक बनाया जाता है। इस अंग की बंदिश अत्यंत सुगठित होती है। लय प्रधान होते हुए भी इन तुमरियों में विवधिता के दर्शन होते हैं। लय का विविध प्रयोग एवं स्वरों का आलंकारिक प्रयोग इसकी खास विशेषता है। गायिकी को छोटे-छोटे तिहाइयों से सजाया जाता है। इस तुमरी को 'बंदिशी तुमरी' या 'बंदिश की तुमरी' भी कहते हैं।

बोलबाँट अंग की तुमरी का कथक नृत्य के साथ सम्बन्ध होने के कारण इस अंग में लय का चमत्कार भी रहता है। बंदिशों के शब्दों को लय में बाँटकर चमत्कार पैदा किया जाता है, इसलिए इसे 'लयबाँट की तुमरी' भी कहा जाता है। कथक नर्तक इसपर भाव भी बताते हैं, इसलिए इसे 'अर्थभाव की तुमरी' और 'गतभाव की तुमरी' भी कहा जाता है। इस अंग पर तंत्री वादकों का और कथक नर्तकों का विशेष योगदान परिलक्षित है। इस पर मध्य लय के ख्याल, तराने, सितार के गत और नृत्य के गीतों का प्रभाव दृष्टिगत हैं। इतना ही नहीं

कुछ तुमरियों पर ध्रुवपद की भाँति लयकारियों का प्रयोग तथा टप्पा की तान का भी प्रयोग होता है।

इस अंग की तुमरी को प्रायः सभी प्रचलित रागों में सुना जा सकता है। स्पष्ट रूप से राग संगीत की प्रधानता इसपर दिखलाई पड़ती है। इस तुमरी में काव्यात्मक चमत्कार दृष्टिगोचर होता है जैसे-धनाक्षरी तुमरी, अनुप्रास की तुमरी, अधरबंद की तुमरी आदि। अधरबंद की तुमरी में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है कि जिसमें होठों के प्रयोग की आवश्यकता न हो।

इस तुमरी के रचयिताओं में सनदपिया, कदरपिया, अख्तरपिया, दरसपिया, सुधरपिया, ललनपिया, चांदपिया, बिंदादीन आदि प्रसिद्ध हैं। इस तुमरी में प्रायः तीनताल या अद्धाताल का प्रचलन है। कभी-कभी रूपक, एकताल, आड़ाचार ताल, झपताल आदि में भी रचनाएँ सुनाई देती हैं। यह मुख्यतः मध्य या द्रुत लय में प्रस्तुत की जाती है। इस अंग की भाषा मुख्य रूप से ब्रजभाषा है। इसके साहित्य में राधा-कृष्ण की लीला, ब्रजचित्रण के साथ साधारण नर-नारी की प्रेमाभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है। इस अंग में लयवैचि॥य, शब्दयोजना, राग के स्वर-संयोजन आदि के द्वारा गायिकी एवं भाव उत्पन्न किया जाता है।

2. *बोलबनाव अंग की तुमरी* : यह अंग मुख्यतः गायिकी प्रधान है जिसमें बंदिश के शब्दों में निहित भावों को स्वरों के माध्यम से अभिव्यक्त कर भावात्मक बनाया जाता है। इस अंग की तुमरी मुख्यतः लोकात्मक राग में प्रस्तुत की जाती है। भाषा प्रायः ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि रहती है। कभी-कभी एक ही बंदिश में कई-कई भाषाओं का मिश्रण भी देखा जा सकता है।

इस अंग की तुमरी में शृंगार रस के दोनों पक्ष संयोग और वियोग की प्रधानता रहती है। करुणा, भक्ति और शांत रस की अभिव्यंजना भी दृष्टिगत है। इस गायिकी की लय विलंबित है, जिसके कारण इसमें भावों की अभिव्यंजना के लिए इत्मीनान और चौनदारी से व्यक्त करने के लिए समय मिल जाता है। यह दीपचंदी, जत, सितारखानी, पंजाबी आदि तालों में निबद्ध कर गायी जाती है। इसमें लय विलंबित होने के

कारण बंदिशों में प्रयुक्त शब्दों का परिवर्तन कर भाव प्रकट करने के लिए अधिक सुविधा रहती है।

इस अंग की ठुमरी में बोलों को भावानुकूल स्वर-सन्निवेशों की सहायता से शब्दों के भावों को प्रकट करते हुए बढ़त लिया जाता है। अर्थात्, शब्दों के अर्थ को स्वरो की सहायता से प्रकट करते हैं जिसे 'कहन' कहा जाता है। एक ही शब्द के विभिन्न अर्थ 'कहन' के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है। जैसे- 'छोड़ो बहियाँ' शब्द है। इस शब्द को कभी प्यार से, कभी मनुहार से, कभी गुहार से, कभी क्रोध से कहा जाता है।

प्रस्तुतीकरण के दृष्टि से जब हम इस शैली पर विचार करते हैं, तो मुख्यरूप से दो अंग दिखलायी पड़ते हैं। 1. पूरब अंग और 2. पछाहीं अंग।

1. पूरब अंग : इस अंग की ठुमरी पर पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार के लोक-संगीत का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। यह ठुमरी शुद्ध रागों की अपेक्षा रागों को मिश्रण कर प्रस्तुत किया जाता है। इसमें कण, मुर्की, खटका, जमजमा, गिटकरी, मीड़ आदि अलंकरणों का प्रयोग सादगी से किया जाता है जिससे इस गायिकी में दर्द, हुक, पुकार आदि की भावाभिव्यंजना साकार हो सके। इस अंग में कई उपअंग दिखलाई पड़ते हैं-

क. लखनवी अंग : इस अंग की ठुमरी में ब्रज भाषा के साथ-साथ उर्दू और अवधी भाषा का प्रयोग दृष्टिगत है। यह ठुमरी अवध के नवावी युग की नागरी संस्कृति से प्रभावित है। इसमें बोलबनाव के कला पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। बोलबनाव में शृंगार और नफाशत की प्रधानता है। इस गायिकी में उर्दू भाषा के शेरों का गायन बीच-बीच में कहने का प्रचलन भी है। नवावी युग में विकसित होने के कारण इस शैली में नृत्यात्मकता के साथ नाजो-नखरे, बनाव-शृंगार और नफाशत की प्रधानता है। इस अंग पर टप्पे का भी प्रभाव देखा जा सकता है।

ख. बनारसी अंग : इस अंग में बोलबनाव करते समय बोलों के

‘कहन’ अर्थात् लहजे में पूर्वी बोलियों के विशिष्ट उच्चारण की मीठास के साथ-साथ स्वर-समुदायों के प्रयोग में लोकधुनों की सादगी व सरलता के दर्शन होते हैं। बोलबनाम में मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए इस अंग में हुक, दर्द और पुकार का विशेष महत्व है। इसमें सादगी और सरलता से भावाभिव्यंजना की जाती है तथा विषयानुकूल दोहा, सोरठा, सवैया, कवित्त आदि बीच-बीच में कहते हैं। इस अंग की रचनाओं में ब्रज भाषा के साथ-साथ भोजपुरी आदि पूर्वी बोलियों का प्रयोग दृष्टिगत है।

ग. गया अंग : इस ठुमरी पर मगध की लोकसंस्कृति का प्रभाव है। इसमें शब्दों को प्रधान मानकर गायिकी प्रस्तुत किया जाता है। यह ठुमरी अतिविलंबित लय में गायी जाती है जिससे शब्दों के भावों को प्रकट करने में रागों की स्वरावली का महत्व बढ़ जाता है। इस अंग में खटका, मुर्की आदि अलंकरणों का प्रयोग न के बराबर लिया जाता है। एक स्वर पर कई-कई शब्दों के बोल बनाने की प्रथा भी यहाँ है।

2. पछाहीं अंग : इसे पंजाबी अंग की ठुमरी भी कहते हैं। इस ठुमरी में ‘पूरब अंग’ की ठुमरी को पंजाब के लोक-संगीत की स्वर संदर्भों का रंग देते हुए उसे विशिष्ट बनाने से यह अंग विकसित हुई है। इस शैली में तानों का प्रयोग विशिष्ट तरह से अर्थात् प्रत्येक स्वर के दुहरे-तीहरे रूप को उस स्वर के पूर्ववर्ती या परवर्ती स्वर से कण-खटका देते हुए प्रयोग किया जाता है। यह ठुमरी मध्य लय में गायी जाती है। इस अंग का आकर्षण बोल बनाम में निहित न होकर स्वर-समूहों के वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग की ओर अधिक रहता है। अतः यह अंग स्वर-वैचित्र्य प्रधान है।

उपर्युक्त अंग के अलावे अन्य अंग की ठुमरी प्रचलित रही है, जिसमें ‘किराना अंग’ प्रमुख हैं। इस अंग पर ख्याल गायिकी के किराने घराने का स्पष्ट प्रभाव है। इस अंग में रागों की शुद्धता का अधिक ख्याल रखा जाता है।

ठुमरी लोकात्मक भावयुक्त उपशास्त्रीय विधा है जिसमें भावों का अभिव्यक्ति छोटे-छोटे ‘कहन’ के द्वारा किया जाता है। यह ‘कहन’

संगीतज्ञ की साधना और हृदयगत या मनोगत भावों पर निर्भर करता है।

संदर्भ :

1. ब्रजवाल, डॉ. त्रिलोकीनाथ, ठुमरी ब्रज की माखन मिश्री, संगीत मासिक, संगीत कार्यालय, हाथरस, अगस्त 1995, पृ. 16
2. कारवल, श्रीमती लीला, ठुमरी परिचय, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय आवृत्ति, 2008, पृ. 166
3. शुक्ल, डॉ. शत्रुघ्न, ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 1983, पृ. 207.
4. कारवल, श्रीमती लीला, ठुमरी परिचय, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय आवृत्ति, 2008, पृ. 164
5. वही, पृ. 179.
6. वही, पृ. 72-76.
7. डॉ. अरविन्द कुमार से प्राप्त।
8. उन्हीं से प्राप्त।



लेखक परिचय

- पं. विनोद लेले : संगीतज्ञ एवं वरिष्ठ तबला वादक।
- लावण्य सिंह कीर्ति 'काव्या': संकायाध्यक्ष, ललित कला संकाय, ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार।
- नीरा चौधुरी : प्रोफेसर, संगीत विभाग, पटना विश्व-विद्यालय, पटना।
- प्रो. पुष्पम नारायण : पूर्व संकायाध्यक्ष सह विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मिथिला विश्व-विद्यालय, दरभंगा, बिहार।
- डॉ. अरविंद कुमार : एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संगीत विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना।
- अणिमा श्रीवास्तव : शोधप्रज्ञ, संगीत विभाग, पटना विश्व-विद्यालय, पटना।
- सारिका पटेल : संगीत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
- रूमा चक्रवर्ती : शोधप्रज्ञ, संगीत विभाग, पटना विश्व-विद्यालय, पटना।
- विभा भारती : +2 संगीत शिक्षिका, राजकीयकृत राधादेवी बालिका उच्च विद्यालय सिकन्दरपुर, मुजफ्फरपुर, बिहार।

- रूपाली दास : उच्च माध्यमिक संगीत शिक्षिका, राजकीय रामचंद्र +2 उ.मा. विद्यालय, वीरपुर, काँटी, मुजफ्फरपुर।
- मौसमी सिन्हा : शोधप्रज्ञ, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, ति. माँ. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।
- सोनिका तिवारी : शोधप्रज्ञ, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, ति. माँ. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।
- पंकज मिश्रा : शोधप्रज्ञ, म.प्र.।
- प्रति मिश्रा : सहायक प्राध्यापक, वीमेंस ट्रेनिंग कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
- रीना दत्त : शोधप्रज्ञ, एम.म्यूज, एल.एन.एम.यू., दरभंगा।
- कुमारी अभिलाषा : शोधप्रज्ञ, संगीत विभाग, पटना विश्व-विद्यालय, पटना।
- सोनाली बनर्जी : संगीतज्ञ एवं गायिका।
- पल्लवी प्रिया : शोधप्रज्ञ, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार।





प्रो. नीरा चौधुरी

प्रोफेसर,

संगीत विभाग, मगध महिला महाविद्यालय,

पटना विश्वविद्यालय, पटना

शिक्षा : एम.ए., पी-एच.डी., बी.एच.यू.

विशेषज्ञ : गायन

उपलब्धि : B.High Grade Artist of A.I.R
& Doordarsan since 25 years

संपर्क : 9471863642



डॉ. अरविंद कुमार

एसोसिएट प्रोफेसर,

संगीत विभाग, मगध महिला महाविद्यालय,

पटना विश्वविद्यालय, पटना

शिक्षा : एम.ए., पी-एच.डी.

विशेषज्ञ : संगीतशास्त्र एवं एवं गायन

संपर्क : 9835681230



सत्राची फाउंडेशन, पटना

ISBN 978-81-959660-4-2

₹ 250



9 788195 966042